जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 2 • फरवरी, 2004

140

With best compliments from :

Inderchand Ashok Naman Bohara
Goutham Arihan Bafna

BOHARA METAL PRODUCTS

SRRI MILAN IMPEX

Manufacture Exporter of Stainless Steel Utensils & Cutlery

Registered Office :
 # 204, Triplicne High Road
Chennai 600005
Phone : 0091-44-28481014

Administrative Office :
 # 304, Mint Street
Chennai 600003
Phone : 0091-44-25357767 Fax : 25332142

Works :
 # G 17, Vyasarpadi Insustrial Estate, E. H. Road
Chennai 600039
Phone : 0091-44-25520681

Mobile : 98840 17000 / 98841 17000
e-mail : boharametal@satyam.net.in

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • फरवरी, 2004 • अंक 2

विमर्श

9
डॉ. एस राधाकृष्णन
आत्मा ही स्वतंत्रता

13
समणी मंगलप्रज्ञा
जैन कर्म-सिद्धांत : एक विमर्श

20
माणकचंद सिंघी
महावीर का अर्थशास्त्र : उत्पादन की प्राथमिकताएं

23
डॉ. फूलचंद जैन 'प्रेमी'
वनस्पतिकाय : जैन मान्यता और आधुनिक विज्ञान

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

29
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
समाज और अनुशासन

33
आचार्यश्री तुलसी
निखार—आत्मानुशासन से

36
मुनि जयंतकुमार
एक आध्यात्मिक कल्पतरु

39
कहानी
हृदयेश
जीवन राग

44
कविता
अञ्जू ढड्ढा मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-शक्ति

शीलन

47
समणी हिमप्रज्ञा
मर्यादा और अनुशासन : तेरापंथ का प्राणतत्त्व

49
साध्वी मननयशा गोगुंदा
अहिंसा : अस्तित्व की सुरक्षा

53
बालकथा
वीरेंद्र तंवर
एक रहें नेक रहें

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

संपूर्ण भारतीय विचारधारा में दो सामान्य बातें हैं—मोक्ष के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण और उसके लिए जो साधना बताई गई है उसमें व्याप्त वैराग्य की भावना। इन बातों से सिद्ध होता है कि भारतीयों के लिए दर्शन न तो मात्र बौद्धिक चिंतन है और न मात्र नैतिकता, बल्कि वह चीज है जो इन दोनों को अपने अंदर समाविष्ट भी करती है और इनसे ऊपर भी है। दूसरे शब्दों में—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—यहां दर्शन का लक्ष्य उससे भी अधिक प्राप्त करना है जो तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र से प्राप्त किया जा सकता है। किंतु यह नहीं भुला देना चाहिए कि तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र यद्यपि स्वयं साध्य नहीं हैं, तथापि दर्शन के लक्ष्य के ये ही एकमात्र साधन हैं। इन्हें ऐसे दो पंख माना गया है जो आध्यात्मिक उड़ान में आत्मा की सहायता करते हैं। इनकी सहायता से जो लक्ष्य प्राप्त होता है, उसका स्वरूप एक ओर तो ज्ञान का है—ऐसे ज्ञान का जिसमें बौद्धिक आस्था की अपरोक्षानुभव में परिणति हो गई हो, और दूसरी ओर वैराग्य का है—ऐसे वैराग्य का जो उसके तात्त्विक आधार की जानकारी से अविचल हो गया हो। वह प्रधानतः शांति की मानसिक स्थिति है, जिसमें निष्क्रियता का होना अनिवार्य नहीं है। लेकिन बल मानसिक स्थिति या उस आंतरिक अनुभव पर है, जो उसे उत्पन्न करता है, न कि बाह्य व्यवहार पर, जो उसकी अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है और इसलिए न्यूनाधिक रूप से गौण है। दार्शनिक साधना का महत्त्व जितना कम किसी व्यक्ति को अज्ञात का ज्ञान कराने में है, उतना ही कम उसे वह करने को प्रेरित करने में भी है, जो अन्यथा उसने न किया होता; उसका महत्त्व तो तत्त्वतः उसे वह बनाने में है जो पहले नहीं था। कहा गया है कि स्वर्ग पहले एक मनोवृत्ति है और तब कुछ और।

—एम. हिरियन्ना

शासन व्यवहार पर अवलंबित होता है। साधना का स्रोत अकेले में अधिक स्वच्छ हो सकता है, किंतु अकेले चलने की क्षमता सबमें नहीं होती। दूसरों का सहयोग लिए-दिए बिना अकेला रहकर आगे बढ़ना महान पुरुषार्थ का काम है। जैन परंपरा में एक कोटि एकल-विहारी साधुओं की होती है। उस कोटि के साधु शरीरबल, मनोबल, तपोबल और ज्ञानबल से विशिष्ट सामर्थ्यवान होते हैं। दूसरी कोटि के साधु संघ-बद्ध होकर रहते हैं। जहां संघ है, वहां बंधन तो होगा ही। अकेले के लिए भी बंधन न हो, ऐसा तो नहीं होता। उसका आत्मानुशासन परिपक्व होता है और वह अकेला होता है, इसलिए उसे व्यावहारिक बंधनों की अपेक्षा नहीं होती।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

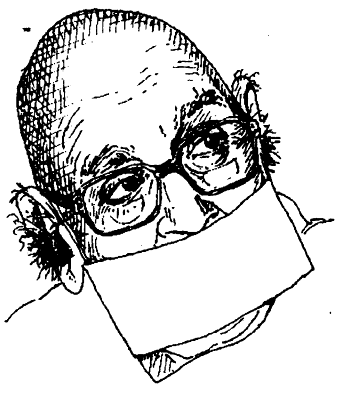

किसी भिखारी को भाई समझकर उसे भोजन कराया जाए या और कोई सहयोग दिया जाए, यह सामाजिक दृष्टि से ऊंची बात हो सकती है, किंतु भाई समझकर कुछ खिलाने या देने से पुण्य नहीं माना जाता। यह अभिमत धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक रूप में भी समझ से परे है। यही बात जलाशय, चिकित्सालय, विद्यालय आदि के निर्माण की है। इन सबका सामाजिक दृष्टि से उपयोग है। सामाजिक दायित्व की प्रेरणा से व्यक्ति इनका निर्माण करता है, इसे समाजधर्म भी कहा जा सकता है। पर मोक्षधर्म से इसका क्या वास्ता है? युगीन संदर्भ में जिस प्रवृत्ति का उपयोग हो, व्यावहारिक दृष्टि से उसका मूल्यांकन किया जा सकता है। किंतु इस प्रकार की प्रत्येक प्रवृत्ति पर धर्म का मुलम्मा चढ़ाने से मोक्ष और संसार के मार्ग का पृथक्करण नहीं हो सकता।

—आचार्यश्री तुलसी

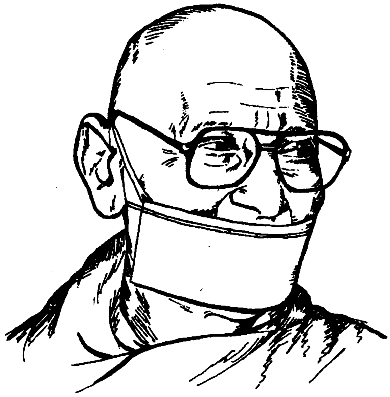

कहा गया—अकर्म से कर्म को क्षीण करो। कायोत्सर्ग एक अकर्म है, ध्यान एक अकर्म है। जब व्यक्ति अकर्म में चला जाता है, कर्म बेचारे कांप उठते हैं। जब तक यह अकर्म की बात समझ में नहीं आएगी तब तक रूपांतरण की बात भी समझ में नहीं आ पाएगी। कहा जाता है—खाली बैठना, खाली रहना अच्छा नहीं है। प्रसिद्ध कहावत है—खाली दिमाग शैतान का घर। वस्तुतः यह कहने वालों ने सचाई को ठीक से पकड़ा नहीं। खाली दिमाग का घर नहीं होता, किंतु शैतानी से भरा हुआ दिमाग शैतान का घर होता है। व्यक्ति का दिमाग खाली होता ही नहीं है। खाली दिमाग वह होता है जिसमें न कोई चिंतन होता है, न कोई विचार होता है, न कोई कल्पना होती है और न कोई स्मृति होती है। उसमें केवल अपनी शुद्ध चेतना का अनुभव होता है। जहां शुद्ध चेतना है, वहां शैतान आ ही नहीं सकता।

अकर्म का अर्थ निकम्मा होना नहीं है। शायद जीवन के सफल और सार्थक क्षण वे हैं—जो अकर्म के क्षण हैं। अकर्म का क्षण वह है—जहां व्यक्ति कुछ भी नहीं करता, केवल अपनी आत्मा की सन्निधि में रहता है। यही परिवर्तन का बिंदु बनता है। जो व्यक्ति एक चाह लेकर जाए और आधा घंटा के बाद यह कह दे—मुझे कुछ नहीं चाहिए। क्या यह कल्पना की जा सकती है? क्या इतना रूपांतरण संभव है? किंतु असंभव नहीं है। जब व्यक्ति भीतर में चला जाता है, अपने प्रभु के पास चला जाता है, अपनी आत्मा की सन्निधि में चला जाता है—रूपांतरण संभव बन जाता है। भीतर पहुंचने के बाद चाह नाम की कोई चीज ही नहीं रहती। जिस व्यक्ति ने भीतरी जगत का अनुभव किया है, वह मिलने वाले वरदान को भी ठुकरा देता है। इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं। देने वाला कहता है—तुम मांगो! और सामने वाला कहता है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। दाता के पुनः आग्रह पर वह कहता है अगर तुम देना चाहते हो वह दो जिससे मेरे मन में मांगने की स्थिति ही पैदा न हो। यह रूपांतरण अंतश्चेतना के साथ संपर्क किए बिना होता नहीं है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-शक्ति

हर विचारशील व्यक्ति का यही मानना है कि अहिंसा कायरों के लिए नहीं है। जो व्यक्ति कायर या डरपोक हैं, उनके लिए अहिंसक हो पाना बड़ी भारी दुश्वारी है। तो क्या वे हिंसक होते हैं? वे अहिंसक नहीं कहे जा सकते। जो कायर है, वह किसी की हत्या की सामर्थ्य भी रख सकता है—ऐसा मानने में नहीं आता। अतः हत्या जैसा हिंसक अपराध या पाप कायरों से भले न हो सकता हो, पर अन्य प्रकार की हिंसाओं में तो कायर भी लिप्त हो ही सकते हैं। हिंसा के अनेक रूप हैं और वे रूप भी कम घातक नहीं हैं। कायर या डरपोक माने जाने वाले लोग भी इस प्रकार हिंसक कहे जा सकते हैं। अहिंसा यदि जीवन-सूत्र नहीं है तो घात लगाकर हत्या करने से कोई कायर क्या चूकेगा? आजकल जो युद्ध लड़े जाते हैं और जितनी मारकाट उनमें हो जाती है—क्या उसमें योद्धापन है? ये लड़ाइयां तो कायरों की-सी ही हैं। शूरवीरता या योद्धापन इनमें जरा-भर भी नहीं है। शस्त्रविहीन को मारना युद्ध के शास्त्रों में निषिद्ध है, पर आज यह कौन देखता है? कायरों के लिए अहिंसक हो पाना बड़ी दुश्वारी है तो मार-काट कर देना भी उनके लिए दुश्वारी ही है। जो हो, वे अहिंसक नहीं कहे जा सकते। वे हिंसक ही होंगे, क्योंकि हिंसा के कितने ही रूपों में वे लिप्त पाए जा सकते हैं।

और वे व्यक्ति, जो हिंसक शस्त्र अपने पास रखते हैं, क्या सचमुच किसी की हत्या का साहस कर सकते हैं? घर-परिवारों में, या संभ्रांत कहे जाने वाले श्रेष्ठिजनों के पास लाइसेंस-शुदा शस्त्र पाए जाते हैं, पर क्या उनका उपयोग करते हमने सुना है? कोई इक्का-दुक्का घटना को छोड़ दें, हम पाएंगे कि कठिन स्थितियों में भी रिवॉल्वर या पिस्तोल के 'ट्रिगर' (घोड़ा) पर उनकी अंगुलियां नहीं ठहर पातीं। गरज यह कि वे श्रेष्ठिजन एक तरह के भ्रम में ही रहते हैं कि रिवॉल्वर उनकी रक्षा कर सकेगा। जरूरत पड़ने पर रिवॉल्वर का 'ट्रिगर' उनसे दबेगा, इसमें संदेह ही है। तात्पर्य यह कि शस्त्र-उपकरणों से सज्जित हो जाने से ही शक्तिशाली नहीं हुआ जा सकता। कायरता वहां भी मौजूद ही रहती है। ऐसे लोग एक दूसरे प्रकार की हिंसा से ग्रस्त तो हो ही जाते हैं। वे किसी की हत्या करने का दुस्साहस तो नहीं कर पाते हैं, पर अहिंसा के बल से अपनी रक्षा कर सकें, ऐसा साहस भी उनमें नहीं होता।

'अहिंसा-शक्ति' की खिल्लियां कई तरह से होती रही हैं। यह तो अक्सर ही कहा जाता है कि मुंह पर यदि कोई तमाचा मारे तो उसका प्रतिकार न करें, दूसरा गाल सामने कर दें—क्योंकि हम अहिंसक जो हैं। आत्मरक्षा के लिए हथियार न उठाने की बातें भी कही ही जाती हैं। ऐसी घटनाओं के जिक्र भी होते हैं कि किसी सती-साध्वी के शीलहरण की नृशंस कुचेष्टा को निष्फल करने के लिए उस सती-साध्वी ने अपनी जीभ खींच कर इहलीला समाप्त कर ली। वह समाज में सर्वत्र पूजी भी जाती है। ऐसे प्रतिकार को कायरता तो नहीं कहा जा सकता, पर क्या इसे अहिंसा-शक्ति का सकारात्मक प्रत्युत्तर माना जा सकता है? इस तरह अहिंसा समाज में महिमा-मंडित तो हो सकती है, पर क्या इससे वह जीवनाधार भी बन सकेगी? आज के आधुनिक समाज में ये सवाल बड़ी 'चुभन' पैदा करते हैं। इनका समुचित उत्तर हमारी 'मनीषा' को देना चाहिए। सामान्य जीवन में अहिंसा की सकारात्मक भूमिका स्थापित हो सके—इस

दृष्टि से ऐसे प्रश्न जन-जीवन को जितना अधिक मथेंगे, उतनी ही स्पष्टता हमारे विचार और व्यवहार में परिलक्षित होगी। अहिंसा-शक्ति को पुनः प्राप्त करने की बात महात्मा गांधी बराबर कहते रहे हैं। वे कहते हैं '...हमें अनवरत और सायास विचारपूर्वक इस शक्ति को पुनः प्राप्त करना होगा और उसे प्राप्त करने के बाद ही हम शक्ति का सतत त्याग करके हिंसा की यातनाओं से दुनिया को मुक्त कर सकेंगे।'

गांधी का यह कथन आज हमें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के क्रियाकलापों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उनकी अहिंसा-यात्रा इसी का प्रमाण है। जिस शक्ति को प्राप्त करने के सायास और विचारपूर्वक प्रयत्न की बात गांधी ने सन् 1918 में कही, 'अहिंसा-यात्रा' को उसकी संपूर्ति का प्रयास माना जा सकता है। अहिंसा-यात्रा के जरिए सैकड़ों गांवों और लाखों जनों तक जिस संदेश को अब तक पहुंचाया गया है—वह स्वस्थ समाज के निर्माण की आधारशिला माना जा सकता है।

निश्चय ही हमें अधिक खुश-फहमी में नहीं रहना चाहिए। भारत-जन की ऐसी ही मानसिकता रही है और उसके दुष्फल भी बहुत शीघ्र हमें घेरते हैं, तब भी हमारी यह मानसिकता बदल नहीं पाई है। इस वजह से बहुत बड़े प्रयोग भी अपेक्षित परिणति नहीं दे पाए हैं। आजादी के तुरंत बाद विनोबा का 'भू-दान' आंदोलन एक बड़ा प्रयोग रहा, पर क्या उसके अपेक्षित परिणाम मिल पाए? विनोबा के प्रति दृढ़ आस्था रखने वालों के लिए क्या यह जरूरी नहीं कि उन प्रयोगों की निष्ठुरतापूर्वक समीक्षा की जाए और ऐसी समीक्षा के निष्कर्षों से कोई मार्गदर्शन प्राप्त किया जाए? ऐसा करना इसलिए जरूरी है कि विनोबा सरीखी क्रांतिकारिता के बीज भी अब नजर नहीं आ रहे। अतः विरासत में जो-कुछ हमें मिला है—बिना आत्ममुग्धता के—उसे खंगालना चाहिए। 'अहिंसा-यात्रा' को फिलवक्त इसीलिए हमें स्वस्थ समाज-निर्माण की आधारशिला-भर मानना चाहिए। मानना चाहिए कि काम काफी शेष है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस दृष्टि से एकदम स्पष्ट हैं। वे कहते हैं—'मत मारो—यह अहिंसा का सामान्य स्थूल रूप है।...क्रूर वृत्ति के द्वारा दूसरे की शक्ति का शोषण करना, श्रम का शोषण करना, क्रूरता का मनोभाव रखना—बहुत बड़ी हिंसा है।' वे आगे कहते हैं—'जीवन समस्याओं का एक संकुल है, पर समस्या का इससे बड़ा केंद्र है—समाज। समाज में जातिवाद का जो स्वरूप आज बन रहा है, अथवा बनाया गया है, वह भी हिंसा का बड़ा कारण है। सांप्रदायिक कट्टरता जीवन की समस्याओं को बढ़ावा दे रही है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उन लोगों में नहीं हैं जो केवल समस्या के दैत्य को खड़ा रख कर छोड़ दें और एक भयातुर स्थिति बनी रहे। वे इनका समाधान भी बताते हैं। वे कहते हैं—'इसके लिए प्रत्येक मानव को प्रशिक्षित करना होगा कि हम सबके हैं और सब हमारे हैं। ये भाव ही हिंसा को प्रतिबंधित कर सकते हैं, इनके प्रति आस्था को जगाना होगा। जब तक इन भावों का, इस चेतना का विकास नहीं होगा—तब तक अच्छे व्यक्ति और अच्छे समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता।'

इसीलिए हम देखते हैं, सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में नियंता माने जाने वाले वे लोग, जो घोर प्रतिद्वंद्वी हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पास निर्भय होकर पहुंचते हैं। कई बार इसमें विरोधाभास भी प्रतीत होता है और यह आलोचना भी सामने आती है कि समाज-प्रतिगामी शक्तियों को इससे अनायास ही ताकत पहुंचती है। यह एक पक्ष हो सकता है, पर यह पक्ष भी क्या कम प्रभावी है कि कथित प्रतिगामी शक्तियां आखिरशः सही पटरी पर कैसे आएंगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उस सरोवर की तरह नहीं जहां शेर और बकरी दोनों ही केवल प्यास बुझा, चलते बनें। जो आता है; बेशक उसकी प्यास तो बुझती ही होगी, पर साथ ही यह भी तो होता है कि कैसे वे शक्तियां सकारात्मक स्वरूप ग्रहण करें। परिवर्तन का अहिंसक तरीका यही हो सकता है।

—शुभू पटवा

[तेरापंथ का मर्यादा-महोत्सव आत्मानुशासन का पर्व है। यह सर्वोच्च पर्व (माघ शुक्ला सप्तमी, 28 जनवरी, '04) इस बार जलगांव (महाराष्ट्र) में। इस अंक में पर्व-विशेष पर अपने पाठकों के लिए कुछ विशेष सामग्री।

27 जनवरी, 2004 (माघ शुक्ला 6) आचार्यश्री महाप्रज्ञ पदाभिरोहण दिवस और 31 जनवरी, 2004 (माघ शुक्ला 10) आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दीक्षा दिवस (युवा दिवस) जैसे अवसर-विशेष पर भी जैन भारती के पाठकों के लिए इस अंक में कुछ खास सामग्री।

—सं.]

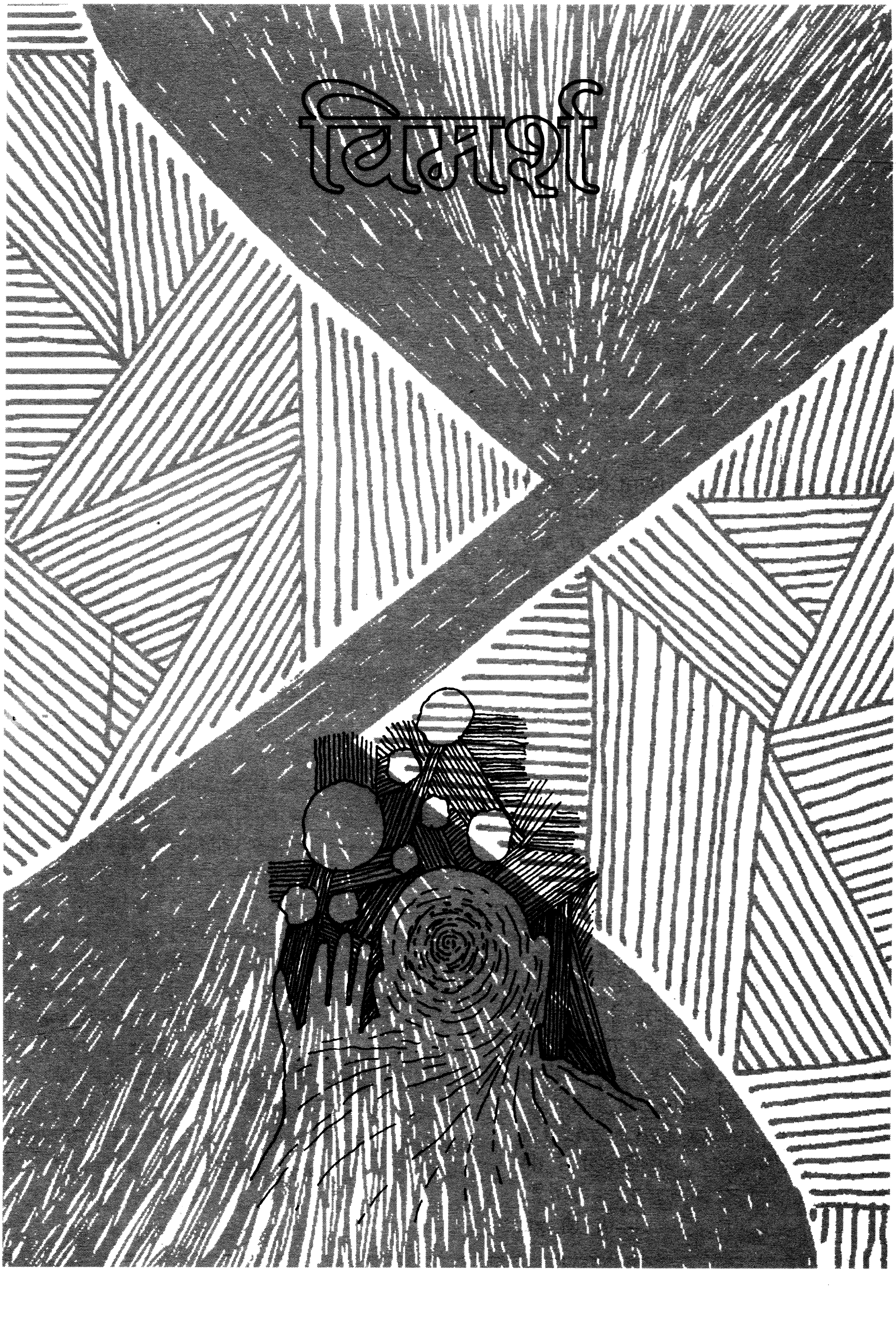
विमर्श

अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे, तो हमें अपने व्यवहार का एक क्रम बांध लेना चाहिए। हमारा नित्य का कार्यक्रम किसी-न-किसी निश्चित आधार पर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है, जब कि हमारा जीवन उस मर्यादा में और एक निश्चित नियमित रीति से चलता रहे। नदी स्वच्छंदता से बहती है, परंतु उसका प्रवाह बंधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो, तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जाएगी। ज्ञानी पुरुष का उदाहरण अपनी आंखों के सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषों का आचार्य है। भगवान ने पहले-पहल कर्मयोग सूर्य को सिखाया, फिर सूर्य से मनु को, अर्थात् विचार करने वाले मनुष्य को, वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतंत्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसी में उसकी स्वतंत्रता का सार है। यह हमारे अनुभव की बात है कि हमें एक निश्चित रास्ते से घूमने जाने की आदत है, तो रास्ते की ओर ध्यान न देते हुए भी मन से विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमने के लिए हम रोज नए-नए रास्ते निकालते रहेंगे, तो सारा ध्यान उन रास्तों में ही लगाना पड़ेगा। फिर मन को मुक्तता नहीं मिल सकती। सारांश यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बांध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा नहीं, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

—**विनोबा**

जिस संस्कृति का विकास लंबे समय तक अविच्छिन्न रहा हो, उसकी आत्मा से साक्षात्कार करने का ढंग यह नहीं है कि किसी विशेष समय पर उसका लेखा-जोखा ले लिया जाए। यह लेखा-जोखा न तो उसके पहले की दशाओं में मिल सकता है और न बाद के विकास में। किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने का ढंग यही है कि उसकी संपूर्ण वृद्धि को समझा जाए और उस गुह्य अर्थ को पाने का प्रयास किया जाए, जो हर दशा में अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्षरत रहता है, किंतु कभी भी संपूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता। यही है वह अंतरात्मा जो इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को एकसूत्र में बांधती है और प्राचीनतम तथा नवीनतम—सभी अवस्थाओं में उपस्थित है। भारतीय संस्कृति का यह अर्थ, यह आध्यात्मिक केंद्रबिंदु क्या है?

आत्मा ही स्वतंत्रता

डॉ. एस राधाकृष्णन

मानव जीवन सह-अस्तित्व और सहयोग का संयुक्त जीवन है। यह सामुदायिक जीवन जड़ प्रक्रिया नहीं है, गतिमय है—जिसमें क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं होती हैं। मधुमक्खी के छत्ते या चींटियों की बांबी की तरह, सामाजिक या सहयोगी जीवन पर प्रवृत्तियों का नहीं, बल्कि अर्थ और उद्देश्य का प्रभाव पड़ता है। इसी मानसिक यथार्थ के कारण झुंड मानव-समाज बन जाता है। भाषा और संकेतों तथा धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा यही यथार्थ प्रकट होता है।

लाखों वर्षों के अप्राप्य प्राग्-इतिहास में मानव के निर्माण की दिशा में निश्चित कदम उठाए गए। उसकी तुलना में पिछले छः हजार वर्षों का लिखित इतिहास थोड़े ही समय का है। उन लंबे युगों में अनेक आकार के मनुष्य दुनिया के विभिन्न भागों में रहते थे और एक-दूसरे के बारे में उन्हें तनिक भी ज्ञान न था।

यूरोप को केंद्र मानकर पूर्व और पश्चिम का अंतर बतलाया जाता है। भौगोलिक क्षेत्र सांस्कृतिक या नृतत्त्वशास्त्रीय इकाइयां नहीं होते। पूर्व और पश्चिम दोनों में से कोई भी संसृष्ट इकाई नहीं है। दोनों में से प्रत्येक केवल एक शब्द है, जो विकास की विभिन्न दशाओं में अनेक पृथक्-पृथक् लोगों और धर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। दोनों की संस्कृतियों का अपना अलग व्यक्तित्व था। अफगान मुसलमान और फिलिपिनो कैथलिक या चीनी ताओवादी और लंकावासी बौद्ध में कोई समानता नहीं है। फ्रांस और जर्मनी तथा स्पेन और स्कैंडिनेविया के समान चीन, जापान और भारत का अपना-अपना अलग सांस्कृतिक विकास हुआ था। अतः पश्चिमी या पूर्वी संस्कृति कहने का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि समान आरंभ होने पर भी उनके अनेक उपविभाग रहे हैं। फिर भी, जितनी अच्छी तरह पश्चिमी संस्कृति की उपसंस्कृतियों को परस्पर संबंधित किया जा सकता है, उतनी अच्छी तरह पश्चिमी और पश्चिमेतर संस्कृतियों को नहीं।

इतिहास पर व्यापक दृष्टि डालने पर हमें मालूम होगा कि संपूर्ण मानवजाति और उसकी सामाजिक व्यवस्थाओं के कुछ मौलिक लक्षण होते हैं, जो हमारे विचारों को आक्रांत किए रहने वाले अंतरों से अधिक प्राथमिक हैं। फिर भी ये अंतर स्पष्ट हैं और किसी संस्कृति को उसका रूप और विशिष्टता प्रदान करते हैं और संस्कृति अपने सदस्यों को विपरीत दिशाओं में क्रियाशील बलों के अत्यंत सूक्ष्म संतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न समतुलन और दृढ़ता प्रदान करती है। उदाहरणतः, भारतीय संस्कृति एक लंबी एवं वैविध्यपूर्ण परंपरा है; दर्शन और धर्म, कला और साहित्य, विज्ञान और मानव-विज्ञान के क्षेत्रों में एक महान अटूट प्रयास है।

किसी ऐतिहासिक संस्कृति की बात करने का अर्थ है उसे जीवित रखने वाले मूल्यों और विश्वासों की बात

करना, उसके सामाजिक ढांचे का निर्धारण करने वाली आध्यात्मिक शक्तियों की बात करना। केवल हिंदू भारत, बौद्ध एशिया, पश्चिमी ईसाई-साम्राज्य या मुसलमान समाज जैसे नामों से ही मालूम होता है कि प्रत्येक समाज की आधारशिलाएं आध्यात्मिक परंपराएं हैं, जीवनदर्शन हैं। सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक व्यवस्थाएं और वैज्ञानिक विश्वास—सभी परस्पर कुछ आदर्शों से बंधे हैं, जिनके बल पर ही मानव अपनी प्रकृति की द्वैतता—पशु और मानव, प्रवृत्ति और बुद्धि, व्यक्ति और समाज—पर विजयी हो पाता है। जब तक कोई समाज अपने आदर्श पर जीवित रहता है, तभी तक उसके उपायों और उपलब्धियों में अर्थ रहता है। विश्वास खंडित हो जाने पर समाज का दिशानिर्देशक और दिशा—दोनों खो जाते हैं। अनिवार्य विश्वासों का मुरझाना ही सांस्कृतिक ह्रास का लक्षण है। स्पेंगलर के शब्दों में, संस्कृति कठोर होकर सभ्यता बन जाती है, एक निश्चित आकार ग्रहण कर लेती है, जिसमें कोई और रूप ग्रहण करने की, आगे विकास की क्षमता नहीं रह जाती। पुरानी और नई—सभी संस्कृतियों की जड़ें होती हैं। उन पर दूसरे प्रभाव पड़ते हैं। पुराने समय में चीनी और हिंदू संस्कृतियों का संपर्क पश्चिमी संस्कृतियों के साथ था। इसी प्रकार पश्चिमी संस्कृतियों का संपर्क चीनी और हिंदू संस्कृतियों के साथ था। विचारों का आदान-प्रदान बहुत अधिक हो चुका है, जिसे उस सीमा तक स्वीकार करने की प्रवृत्ति हममें नहीं है।

बिशप वेस्टकॉट ने स्वर्गीय श्री सी. एफ. एण्ड्रूज से कहा था : 'भारत और यूनान ही ऐसे दो विचारक राष्ट्र थे जिन्होंने संसार के इतिहास का सृजन किया। यूनान यूरोप का अगुआ था। उसी प्रकार भारत सदा एशिया का अगुआ रहेगा।'[1] भारत एशिया का अगुआ होने का दावा नहीं करता और चीन की संस्कृति की प्राचीनता और महत्ता को स्वीकार करता है, फिर भी इस कथन से इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही एशियाई मामलों पर भारत का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

अपने अध्यात्मवाद और निश्चयवाद, आत्मविषयक दृष्टिकोण और हेतुवादी विचारधारा-सहित भारतीय संस्कृति का प्रभाव चार हजार वर्षों से संसार पर छाया हुआ है। इंडोनेशिया और इंडोचीन, मलय और थाईलैंड, बर्मा और लंका, चीन और जापान कुछ अंशों में भारतीय आत्मा—ब्राह्मण और बौद्ध—के साक्षी हैं। अंगकोर का शानदार सौंदर्य और बोरोबुदुर की शांत रम्यता को देखकर हमें उनके निर्माताओं की अद्‌भुत प्रेरणा और शिल्पकुशलता पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

हमारे एक महान कवि कालिदास को मालूम था कि विदेशों में भारत का प्रभाव कितना था। इसीलिए क्या आश्चर्य, यदि उन्होंने हिमालय पर्वत का वर्णन इस तरह किया मानो वह पृथ्वी को मापने का गज हो, सभ्यताओं को मापने का पैमाना हो।[2] कहा जाता है कि हिमालय पर देवताओं को निवास है।[3]

जिस संस्कृति का विकास लंबे समय तक अविच्छिन्न रहा हो, उसकी आत्मा से साक्षात्कार करने का ढंग यह नहीं है कि किसी विशेष समय पर उसका लेखा-जोखा ले लिया जाए। यह लेखा-जोखा न तो उसके पहले की दशाओं में मिल सकता है और न बाद के विकास में। किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने का ढंग यही है कि उसकी संपूर्ण वृद्धि को समझा जाए और उस गुह्य अर्थ को पाने का प्रयास किया जाए, जो हर दशा में अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्षरत रहता है, किंतु कभी भी संपूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता। यही है वह अंतरात्मा जो इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को एकसूत्र में बांधती है और प्राचीनतम तथा नवीनतम—सभी अवस्थाओं में उपस्थित है। भारतीय संस्कृति का यह अर्थ, यह आध्यात्मिक केंद्रबिंदु क्या है?

कुछ समय पहले तक हम सोचते थे कि लगभग तीन हजार वर्ष पहले भारत में एक उच्च सभ्यता थी, जिसका विशाल प्रभाव पश्चिमी देशों पर, यूनानियों और अरबों द्वारा पड़ा था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की पुरातात्त्विक खोजों से पता चला है कि 3000 ईसापूर्व सिंधु-घाटी में एक अत्यंत उन्नत सभ्यता थी। मुहरों और तावीजों पर की गई खुदाई से परिणाम निकाला जा सकता है कि बाद के भारतीय धार्मिक जीवन पर इस सभ्यता का अमित प्रभाव पड़ा था।[4] सर जॉन मार्शल का कथन है कि अनेक प्रमाणों से भारत में एक अत्यंत विकसित संस्कृति की उपस्थिति का पता चलता है 'जिसके पीछे अवश्य ही भारत की धरती पर एक लंबा इतिहास होना चाहिए, जिसके प्रारंभिक युग की मात्र धुंधली कल्पना ही की जा सकती है।'[5] प्रोफेसर चाइल्ड ने लिखा है : 'मिस्र और बैबिलोनिया के समान भारत में भी, ईसा से तीन हजार साल पहले, अपनी एक सर्वथा स्वतंत्र व्यक्तित्वशालिनी सभ्यता थी, जो अन्य सभ्यताओं की सिरमौर थी और स्पष्टतः उसकी जड़ें भारतीय धरती में गहराई तक चली गई हैं।' वे आगे लिखते

हैं : 'यह अभी भी जीवित है, यह निस्संदेह भारतीय है और आधुनिक भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।'[6] इस संस्कृति का घनिष्ठ संबंध पश्चिमी राष्ट्रों की संस्कृतियों के साथ था।[7]

मोहनजोदड़ो का सर्वोत्कृष्ट समय 3500-2250 ईसापूर्व के बीच था। नगर योजनानुसार बसा था। तेंतीस फुट चौड़ी सड़कें पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण जाती थीं। गलियों की चौड़ाई इनसे आधी थी। इमारतें पकी ईंटों और मिट्टी के गारे से बनी थीं। अनेक इमारतें तो कई मंजिलों की थीं। मकानों में स्नानागार और नालियों का प्रबंध था। सार्वजनिक स्नानागार भी थे। नालियों के पाइप मिट्टी के थे—पकाकर, आपस में जोड़कर बनाए हुए। मिट्टी या पत्थर की तावीजों से उनका सौंदर्य-प्रेम स्पष्ट है। उन पर चमकदार पालिश है अथवा बैल, बाघ, हाथी या मगर के चित्र खुदे हैं। जानवरों के चित्र यथातथ्य हैं। वे सोना, चांदी, सीसा, तांबा आदि धातुओं का प्रयोग जानते थे। वे कांसे के संकर बनाना जानते थे। आकर्षक नृत्य करती हुई एक युवती की कांस्य-मूर्ति खुदाई से प्राप्त हुई है। चूड़ियां, कंगन और नाक की कीलें भी मिली हैं, तराजू मिले हैं जिनसे मालूम होता है कि तौलने और मापने के उपकरणों का उन्हें ज्ञान था। गोटियां मिली हैं और एक तरह का खेल वर्गों में विभाजित तख्ती पर मोहरों से खेला जाता था। उन्हें कपास (या रुई) को उपयोग में लाना आता था।[8]

मोहनजोदड़ो में प्राप्त धार्मिक अवशेषों में मां देवी की मूर्तियां हैं। इसके अतिरिक्त एक पुरुष देवता की मूर्तियां भी मिली हैं, जो परंपरागत शिव की प्रतिरूप मालूम पड़ती हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदू धर्म की अनेक विशेषताओं के स्रोत अत्यंत प्राचीन हैं। सर जॉन मार्शल ने तीन मुखों वाले एक देवता (त्रिमूर्ति) का जिक्र किया है, जो एक चौकी पर पद्मासन में ध्यानावस्थित बैठे हैं। वे मृगछाला पर आसीन हैं और उनको घेरे हुए हैं हाथी, बाघ, गैंडा और भैंसा। महान योगी शिव की यह मूर्ति पांच-छः हजार वर्षों से भारत के आध्यात्मिक जगत में प्रमुख स्थान ग्रहण किए है और इस तथ्य की प्रतीक है कि आत्म-विजय, साहस, पवित्रता, जीवन में एकता और भाईचारे से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। यही आदर्श हमें परमात्मा के चिंतन में लीन उपनिषदों के द्रष्टाओं में, अज्ञान और ईर्ष्या को पराजित करने वाले शांत एवं सौम्य बुद्ध में, आत्मसमर्पण के पश्चात् सार्वभौम प्रेम में एकाकार हो जाने और ईश्वर का भक्त बन जाने, और आत्मलीन लालसाओं से ऊपर उठकर परम पिता परमात्मा की इच्छा का पालन इस पार्थिव जगत में सदैव करने वाले साधुओं के आनंदातिरेक में मिलता है। सृजनात्मक जीवन केवल उन्हीं के लिए संभव है, जो एकाग्र और पवित्र रह सकते हैं, और जिनमें एकांत चिंतन का साहस है। एकांत के क्षणों में ही सत्य और सौंदर्य के दर्शन होते हैं और हम उन्हें पृथ्वी पर लाते हैं, भावनाओं के परिधान पहनाते हैं, शब्दों में व्यक्त करते हैं, गतिमयता प्रदान करते हैं या दर्शन के रूप में आंक देते हैं। मस्तिष्क को आत्मा का वाहन बनाने के लिए एकांत और चिंतन आवश्यक हैं। संपूर्ण वृद्धि भीतर से बाहर की ओर होती है। आत्मा ही स्वतंत्रता है। सच्चा ऐश्वर्य मानसिक है, भौतिक नहीं। स्वतंत्रचेता व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अलग है।

भारतीय इतिहास के प्रारंभ में ही मानव-चेतना की एक निश्चित दिशा निर्धारित कर दी गई है। अपना अस्तित्व बनाए रखना, आत्मा की निर्मलता को स्थिर रखना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। हममें आत्मपरकता का सिद्धांत कार्यरत है जो बाहरी प्रभावों के दबाव से मुक्त है। साधारणतः हम स्वयंचालित कल हैं; हमारे कथन और कार्य, मानसिक स्थितियां और भावनाएं, विचार और अभिप्राय—सभी बाह्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। किंतु मानव को किसी अन्य आधार पर कार्यरत होना चाहिए। एक पृथक् अस्तित्व बनना उसके लिए आवश्यक है। जो कुछ वह है, उतने से ही उसे संतुष्ट नहीं होना चाहिए। अपनी चेतना में उसका पुनर्जन्म या कायाकल्प होना चाहिए। आमोद-प्रमोद और विलासमय जीवन बिताने वाला व्यक्ति अनिवार्यतः आंतरिक पथ के पथिक, भीतर से बढ़ने और नई-नई शक्तियां व गुण प्राप्त करने वाले व्यक्ति से ऊंचे तल पर नहीं होता। मानव केवल भौतिक संपत्ति—यहां तक कि ज्ञानार्जन—से ही संतुष्ट नहीं हो सकता। उसका ध्येय कुछ और है—आत्मसाक्षात्कार करना। ❖

संदर्भ सूची

1. 'चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रूज', बनारसीदास चतुर्वेदी तथा मार्जरी साइक्स (1949), पृष्ठ 18 (जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन)।
2. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।। —कुमारसम्भव, 1, 1
3. देवभूमित्वम् शक्यते।
4. फादर हेरास ने लिखा है : 'समय बीतने के साथ-साथ भारत में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। वहां के विशाल मैदानों में विदेशी

आक्रमण हुए हैं, लड़ाइयां लड़ी गई हैं, नए-नए राष्ट्रों और जातियों ने उसे पराजित करके वहां शासन किया है, विदेशी सभ्यताओं ने नए विचार और नए आदर्श प्रदान किए हैं, लेकिन प्रत्येक जाति और प्रत्येक वस्तु को भारतीय राष्ट्र और उसकी प्राचीन सभ्यता ने प्रभावित किया है तथा उनका रूप, आकार और प्रकार नए ढांचे में ढल गए हैं। मिस्र, बैबिलोनिया और असीरिया की प्राचीन सभ्यताओं का नामोनिशान तक आज संसार के नक्शे पर नहीं है। किंतु भारतीय सभ्यता, जिसकी पहली किरणों को, आज के युग में, सिंधु घाटी में खोज निकाला गया है, अब भी जीवित है...' 'स्टडीज इन प्रोटो-इंडो-मेडीटरेनियन कल्चर' (1953), पृष्ठ 11।

5. 'मोहनजोदड़ो ऐण्ड द इण्डस सिविलाइजेशन' (1931), खंड 1, पृ. 106।
6. 'न्यू लाइट ऑन द मोस्ट ऐंशेंट ईस्ट' (1934), पृष्ठ 220। प्रोफेसर फ्रैंकफर्ट ने लिखा है : 'यह निर्विवाद है कि सभ्य संसार का निर्माण करने वाली प्राचीनतम जटिल संस्कृति में यूनानियों के उत्थान से पहले भारत का प्रमुख भाग था।'

   'द इंडस सिविलाइजेशन ऐंड द नियर ईस्ट', ऐनुअल बिबिलियोग्राफी आफ इंडियन आर्कियोलॉजी, खंड 7, पृष्ठ 12। डॉक्टर हाल का कथन है : 'इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत प्राचीनतम मानव-संस्कृति के केंद्रों में से रहा होगा और कल्पना भी स्वाभाविक है कि पश्चिम को सभ्य बनाने के उद्देश्य से पूर्व से आनेवाले विचित्र प्राणी, जो न तो सेमेटिक थे और न आर्य, भारत के ही निवासी थे। हम स्वयं देखते हैं कि सुमेरियाई लोग भारतीयों के कितने समान हैं। इस तथ्य से भी यही मालूम होता है।' 174।
7. मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यताओं तथा चीन और भारत की संस्कृतियों को अल्फ्रेड वेबर प्रारंभिक संस्कृति के, जो अनैतिहासिक भी है और अंधविश्वासी भी, उदाहरण मानते हैं। इनकी तुलना वे करते हैं—यूनानी-यहूदी आधार पर केवल पश्चिम में विकसित सहायक संस्कृतियों से। कार्ल जैस्पर्स इस विचार के विरोध में कहते हैं : 'आज हम जिस भारत और चीन को जानते हैं उनका जन्म 'एक्शियल' युग में हुआ था, उनकी संस्कृतियां प्रारंभिक नहीं सहायक हैं। भारत और चीन—दोनों ही पश्चिम के समान आध्यात्मिक गहराइयों में उतर सके थे। ऐसा मिस्र और बेबिलोनिया तथा भारत और चीन की आदिकालीन संस्कृतियों में संभव न हो सका था।' कार्ल जैस्पर्स कृत 'द ओरिजिन ऐंड गोल आफ हिस्टरी', अंगरेजी अनुवाद (1953), पृ. 278। अल्फ्रेड वेबर इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे लिखते हैं : 'नौ सौ ईसापूर्व तक संसार में तीन संस्कृति-केंद्रों—पश्चिमी एशियाई-यूनानी, भारतीय और चीनी—की स्थापना हो चुकी थी। उस समय से छः सौ ईसापूर्व तक तीनों केंद्रों में लगभग आश्चर्यजनक रूप से एक ही समय में और परस्पर स्वतंत्र रूप से धार्मिक एवं दार्शनिक खोजें हुईं तथा उन विचारों और निष्कर्षों की दिशा सार्वभौमिकता की ओर थी। जरथूस्त्र, यहूदी सिद्धों, यूनानी दार्शनिकों, बुद्ध, लाओत्से द्वारा विश्व की धार्मिक एवं दार्शनिक व्याख्याएं की गईं तथा मानसिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ। पारस्परिक आध्यात्मिक प्रभावों के कारण ये और विकसित हुईं, नए ढांचे में ढलीं, मिश्रित हुईं, पुनः जनमीं, रूपांतरित हुईं या सुधरीं। ये ही विश्व के धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक व्याख्याओं के मापदंड हैं। इस युग की समाप्ति के बाद अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के बाद, धार्मिक विश्वासों में मूलतः नया कुछ भी नहीं जोड़ा जा सकता है।'

   —कार्ल जैस्पर्स कृत 'द ओरिजिन ऐण्ड गोल आफ हिस्टरी', अंगरेजी अनुवाद (1953), पृष्ठ 279।
8. शताब्दियों बाद हेरोडोटस ने 'एक पौधे' का जिक्र किया 'जिसमें फल नहीं लगते बल्कि भेड़ की ऊन से भी अधिक अच्छी और बढ़िया ऊन पैदा होती है, भारतीय जिससे कपड़े तैयार करते हैं।'

❖❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

कर्म को बदला जा सकता है। जैन कर्म-सिद्धांत की यह मौलिक उद्भावना है। आज विज्ञान जगत में भी कुछ प्रयोग हो रहे हैं। लिंग परिवर्तन की घटनाएं आम हैं। पुरुष का महिला एवं महिला का पुरुष रूप में परिवर्तन चिकित्सकीय पद्धति से हो रहा है। कर्म-सिद्धांत की भाषा में इसे नाम-कर्म की प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण होना माना जा सकता है। ऐसे ही 'क्लोनिंग', 'टेस्टट्यूब-बेबी' आदि से संबंधित बिंदुओं को कर्मवाद के आलोक में देखा जा सकता है।

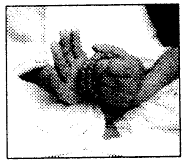

जैन कर्म-सिद्धांत : एक विमर्श

■ समणी मंगलप्रज्ञा

भगवान महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धांत का प्रतिपादन किया—यह आत्म-कर्तृत्ववाद है। प्रत्येक आत्मा अपने वीर्य के द्वारा कुछ करता है और उसका परिणाम भोगता है। कर्म आत्मा के द्वारा कृत है। जीव अपने वीर्य से ही कर्म का अर्जन करता है।

कर्मवाद का सामान्य नियम है—सुचीर्ण कर्म का शुभ फल होता है और दुश्चीर्ण कर्म का अशुभ फल होता है। जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल भुगतना पड़ता है। कर्मवाद का यह सामान्य सिद्धांत है। इस सिद्धांत का संक्रमण उसमें अतिक्रमण माना जाता है।[1] बंधनकाल का शुभकर्म संक्रमण के द्वारा विपाककाल में अशुभ हो जाता है तथा बंधनकाल का अशुभकर्म शुभकर्म-पुद्गलों की प्रचुरता से संक्रांत होकर विपाककाल में शुभ हो जाता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव—आयुष्य कर्म की इन चार उत्तर प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार मोहकर्म के मुख्य दो भेद—दर्शनमोह एवं चारित्रमोह का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

भगवान महावीर ने कर्म के संबंध में अनेक नवीन अवधारणाओं को प्रस्तुत किया। कर्म को बदला जा सकता है। जैन कर्म-सिद्धांत की यह मौलिक उद्भावना है। आज विज्ञान जगत में भी कुछ प्रयोग हो रहे हैं। लिंग परिवर्तन की घटनाएं आम हैं। पुरुष का महिला एवं महिला का पुरुष रूप में परिवर्तन चिकित्सकीय पद्धति से हो रहा है। कर्म-सिद्धांत की भाषा में इसे नाम-कर्म की प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण होना माना जा सकता है। ऐसे ही 'क्लोनिंग', 'टेस्टट्यूब-बेबी' आदि से संबंधित बिंदुओं को कर्मवाद के आलोक में देखा जा सकता है।

कर्म की अवस्था

कर्म की सामान्यतः दस अवस्थाएं मानी जाती हैं— 1. बंध, 2. सत्ता, 3. उदय, 4. उदीरणा, 5. उद्वर्तन, 6. अपवर्तन, 7. संक्रमण, 8. उपशमन, 9. निधत्ति एवं 10. निकाचना।[2]

1. जीव और कर्म-पुद्गलों के संबंध को बंध कहा जाता है। 2. कर्म-पुद्गलों की अनुदित अवस्था को सत्ता कहा जाता है। 3. कर्मों के विपाककाल को उदय कहा जाता है। 4. अपवर्तना के द्वारा निश्चित समय से पहले कर्मों को उदय में लाने को उदीरणा कहा जाता है। 5. कर्मों की स्थिति एवं अनुभाव की जो वृद्धि होती है, उसे उद्वर्तना कहा जाता है। 6. कर्मों की स्थिति एवं अनुभाव की जो हानि होती है, उसे अपवर्तना कहा जाता है। 7. सजातीय कर्म प्रकृतियों के एक-दूसरे में परिणमन को संक्रमण कहा जाता है। शुभ प्रकृति का अशुभ विपाक के रूप में और अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति के रूप में परिणमन इसी कारण से होता है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी। 8. मोहकर्म को उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना के अयोग्य करने को उपशमन कहा जाता है। 9. उद्वर्तना एवं अपवर्तना के सिवाय शेष छह कारणों के अयोग्य अवस्था को निधत्ति कहते हैं। 10. जिस कर्म का उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरण, संक्रमण और निधत्तन न हो सके उसे निकाचित कहा जाता है।

कर्म का परिवर्तन

जैन दर्शन में कर्म का परिवर्तन मान्य है। भगवान महावीर ने जीव के पारिणामिक भाव को कर्म से मुक्त

बतलाया है। उससे जीव को निरंतर कर्ममुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती रहती है और जीव का पुरुषार्थ कर्म के परिवर्तन में भी सक्षम बना रहता है।

कर्म-परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है—संक्रमण। वीर्य-विशेष के द्वारा सजातीय कर्म-प्रकृतियों का एक-दूसरे में संक्रांत होना संक्रमण है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—ये चारों एक रूप से दूसरे रूप में संक्रांत हो जाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति सातवेदनीय कर्म का अनुभव कर रहा है, उस समय उसके अशुभ कर्म की परिणति प्रबल हो जाए तो परिणामस्वरूप सातवेदनीय असातवेदनीय में संक्रांत हो जाता है।[3]

भगवती सूत्र का संवृत एवं असंवृत अनगार का प्रसंग संक्रमण के संबंध में विशेष विमर्शनीय है।

असंवृत-संवृत अनगार का उदाहरण

असंवृत अनगार आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बंधनबद्ध प्रकृतियों को गाढ़ बंधनबद्ध करता है। अल्पकालिक स्थिति वाली प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थिति वाली करता है, मंद अनुभाव वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाव वाली करता है, अल्पप्रदेश-परिमाण वाली प्रकृतियों को बहुप्रदेश परिमाण वाली करता है। संवृत अनगार के इससे विपरीत होता है अर्थात् गाढ़ बंधन शिथिल, दीर्घकाल का अल्पकाल, तीव्ररस का मंदरस, बहुप्रदेश परिमाण अल्पप्रदेश परिमाण हो जाता है।[4] इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं पांच इंद्रियों के वशीभूत होकर जीव सात कर्म-प्रकृतियों के शिथिल बंध को सघन, ह्रस्वकाल स्थिति को दीर्घकाल, मंदनुभाव को तीव्र विपाक एवं अल्पप्रदेशाग्र को बहुप्रदेशाग्र करता है।[5] कर्म-परिवर्तन प्रकृति, स्थिति, अनुभाव एवं प्रदेश—कर्म की इन चार अवस्थाओं का होता है। अशुभ और शुभ—दोनों प्रकार की भावधारा के साथ कर्म की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है।

कर्मवाद में पुरुषार्थ का स्थान

पुरुषार्थ और कर्मवाद में विरोध प्रतीत होता है। यदि प्राणी-जगत में होने वाले परिवर्तन कर्म के द्वारा संपादित होते हैं तो पुरुषार्थ की व्यर्थता सिद्ध होगी और यदि वह पुरुषार्थ के द्वारा संपादित होता है तो कर्म की व्यर्थता हो जाएगी। इस विरोध का परिहार भगवान महावीर ने किया है। उनका दर्शन है कि कर्म पुरुषार्थ के द्वारा किया जाता है। पुरुषार्थ कर्म के द्वारा नहीं किया जाता। इसलिए प्राणी-जगत में होने वाले परिवर्तन का मूल हेतु पुरुषार्थ है। कर्म उसका गौण हेतु है। पुरुषार्थ के द्वारा किए हुए कर्म को भी बदला जा सकता है। उदीरणा, अपवर्तना, उद्वर्तना और संक्रमण—कर्म की ये चार अवस्थाएं इसका स्पष्ट निदर्शन हैं। जीव अपने विशेष पुरुषार्थ से कर्म के स्वभाव, काल, रस के विपाक, प्रदेशाग्र आदि में परिवर्तन कर सकता है।[6] उनको घटा-बढ़ा सकता है। शुभ को अशुभ में, अशुभ को शुभ में बदला जा सकता है।

पुरुषार्थ की भी सीमा है। उसके द्वारा सब-कुछ नहीं किया जा सकता। कुछ कर्म अपरिवर्तनीय भी हैं, जैसे—निकाचित कर्म को पुरुषार्थ के द्वारा नहीं बदला जा सकता।

पुरुषार्थ एवं कर्म की सीमा

कर्म की दस अवस्थाओं के माध्यम से पुरुषार्थ एवं कर्म की सीमा का अवबोध हो जाता है। पुरुषार्थ और कर्म—दोनों सापेक्ष हैं। कर्म सर्वशक्ति-संपन्न नहीं है। पुरुषार्थ के द्वारा उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ भी सर्वशक्ति-संपन्न नहीं है। निकाचित कर्म को बदलने के लिए वह अकिंचित्कर हो जाता है। इसलिए दोनों की शक्ति सापेक्ष है। कहीं कर्म बलवान है और कहीं पुरुषार्थ शक्ति-संपन्न है। भगवान महावीर का कर्मवाद का सिद्धांत भी पुरुषार्थवाद की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। पुरुषार्थ के सिद्धांत की स्वीकृति ने ही जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की अवधारणा को संपुष्ट किया है।

अनुदीर्ण एवं उदीरणायोग्य कर्म

कर्म के स्वाभाविक उदय में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बंध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने-आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हें स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है। इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। उदीरणा कर्म के आठ करणों में पांचवां करण है।[7] इसका अर्थ है अपक्व कर्म को समय से पूर्व पकाना। कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—1. उदय, 2. उदीरणा-उदय। काल-परिपाक होने पर कर्म का जो सहज उदय होता है वह उदय है। प्रयत्न के द्वारा कर्म को समय से पहले उदय में लाया जाता है वह उदीरणा-उदय है। पंचसंग्रह में सहज उदय को 'संप्राप्ति-उदय' और उदीरणा-उदय को असंप्राप्ति-उदय कहा गया है।[8] तत्त्वार्थवार्तिक में अयथाकाल विपाक को उदीरणा-उदय कहा गया है।[9]

महावीर-गौतम का संवाद

गौतम ने भगवान से पूछा—भंते! 1. जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है? 2. अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है? 3. जीव अनुदीर्ण किंतु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है? 4. जीव उदयानंतर पश्चात्कृत कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है?

भगवान ने कहा—गौतम! 1. जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता। 2. जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता। 3. जीव अनुदीर्ण किंतु उदीरणा-योग्य की उदीरणा करता है। 4. जीव उदयानंतर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता।[10]

उदीरणा-अयोग्य कर्म-अवस्था

फल देने में परिणत कर्म-पुद्गल का स्कंध उदीर्ण कहलाता है।[11] कर्म-पुद्गल का जो स्कंध अभी फल देने में परिणत नहीं है, वह अनुदीर्ण कहलाता है। भगवती के वृत्तिकार ने अनुदीर्ण के दो अर्थ किए हैं—1. चिर भविष्य में जिसकी उदीरणा होने वाली है। 2. भविष्य में जिसकी उदीरणा नहीं होने वाली है।[12] चिर भविष्य में की जाने वाली उदीरणा वर्तमानकाल में नहीं हो सकती। जो कर्म उदीरणा के योग्य नहीं होता, उसकी उदीरणा भविष्य में भी नहीं हो सकती। उदीरणा के अयोग्य उपशम, निधत्ति और निकाचना—ये तीन अवस्थाएं हैं।[13] उदीरणा प्रत्येक कर्म की नहीं हो सकती, किंतु उसी कर्म की उदीरणा होती है जो उदीरणा-योग्य बन जाता है। उदय के अनंतर समय में कर्म का वेदन होता है। वेदन के पश्चात् वह अकर्म बन जाता है। उस प्रकार के अतीत अवस्था को प्राप्त कर्म की उदीरणा संभव ही नहीं है।[14] उदीरणा के संबंध में पूछे गए चार विकल्पों में तीसरा विकल्प उदीरणा के लिए सम्मत है। उपशमन अवस्था के लिए दूसरा विकल्प मान्य है। उपशमन अवस्था में उदीर्ण कर्म का क्षय और अनुदीर्ण कर्म के विपाकोदय एवं प्रदेशोदय का सर्वथा स्थगन हो जाता है। इसलिए उपशमन अनुदीर्ण कर्म का ही होता है।[15] वेदन में प्रथम विकल्प सम्मत है अर्थात् वेदन तो उसी कर्म का होता है जो उदय में आ गया है। बिना उदय में आए कर्म का वेदन/अनुभव नहीं हो सकता। निर्जरा में चतुर्थ विकल्प सम्मत है अर्थात् उदय के अनंतर समय में कर्म का वेदन होता है। उस कर्म का वेदन हो जाने पर वह अकर्म बन जाता है। जीव को वह अपना फल दे चुका होता है। वैसे अतीत अवस्था को प्राप्त कर्म की निर्जरा होती है।

नोकर्म की निर्जरा

निर्जरा कर्म की नहीं होती है, वह नोकर्म की होती है। गौतम ने पूछा—'भंते! जो वेदना है वह निर्जरा है? जो निर्जरा है वह वेदना है?' भगवान ने कहा—'गौतम यह अर्थतःसंगत नहीं है। वेदना कर्म की होती है। निर्जरा नोकर्म की होती है।'[16] इसका तात्पर्य है कि जब तक कर्म कर्म रहता है, तब तक वह आत्मप्रदेशों से पृथक् नहीं होता। वह नोकर्म बनकर ही आत्मप्रदेशों से अलग होता है। जब कर्म-परमाणु अपना फल दे चुके होते हैं तब उनका कर्म-स्वरूपत्व समाप्त हो जाता है। उन विपाकहीन कर्म-परमाणुओं की ही निर्जरा होती है। वेदना और निर्जरा भिन्न-भिन्न हैं।[17] तत्त्वार्थ सूत्र में वेदना और निर्जरा को एक माना गया है।[18] वेदना और निर्जरा के संबंध में तत्त्वार्थ एवं भगवती की अवधारणा में भिन्नता परिलक्षित है। यद्यपि यह स्पष्ट ही है कि वेदना के बाद ही निर्जरा होती है। तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी में वेदना एवं विपाक को निर्जरा के पर्यायवाची मानकर भी उनमें भेद किया है। वेदना अनुभव-रूप है। उसका स्वादन विपाक है तथा जिन कर्मों का रस अनुभूत कर लिया है उनका आत्मप्रदेशों से परिशाटन/अलग हो जाना निर्जरा है।[19] भाष्यानुसारिणी का विश्लेषण भगवती की अवधारणा का ही अनुगमन है। भगवती में वेदना एवं निर्जरा—दो का ही उल्लेख है, जबकि तत्त्वार्थभाष्य एवं उसकी टीका में इन दो के अतिरिक्त विपाक का भी उल्लेख है। विपाक वेदना एवं निर्जरा की मध्यवर्ती अवस्था है जिसका समावेश वेदना में हो सकता है।

एवंभूत वेदना-अनेवंभूत वेदना

कर्म-सिद्धांत की यह सामान्य अवधारणा है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे उसी प्रकार से भोगता है। इस सामान्य नियम का अपवाद हमें एवंभूत एवं अनेवंभूत वेदना की अवधारणा में प्राप्त होता है। एवंभूत वेदना उसे कहते हैं जिसमें जिस प्रकार कर्मों का बंधन होता है उसी प्रकार कर्मों का वेदन करते हैं तथा इसके विपरीत अनेवंभूत वेदना में कर्मों के बंधन में परिवर्तन लाकर उनका भोग किया जाता है। भगवान महावीर के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया गया—'भंते! अन्ययूथिक ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि सब प्राणी एवंभूत वेदना का ही वेदन करते हैं, क्या यह मंतव्य यथार्थ है?' महावीर ने कहा—'यह कथन यथार्थ नहीं है। जीव दोनों ही प्रकार से कर्म का अनुभव कर सकता है।'[20]

बौद्ध दर्शन कर्म के एवंभूत वेदन को स्वीकार करने के पक्ष में है।[21] अभयदेवसूरि ने एवंभूत वेदना के सिद्धांत की समीक्षा की है। उनके अनुसार दीर्घकाल में अनुभवनीय आयुष्य कर्म अल्पकाल में भोग लिया जाता है। अकाल-मृत्यु सर्वजन-प्रसिद्ध है। यदि अकाल-मृत्यु को मान्य न किया जाए तो महासंग्राम आदि में होने वाली लाखों मनुष्यों की मृत्यु की व्याख्या कैसे की जा सकती है।[22] अनेवंभूत वेदना के समर्थन में उन्होंने आगमिक आधार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आगम में कर्म के स्थितिघात और रसघात का प्रतिपादन है।[23] स्थितिघात का अर्थ है कर्म की स्थिति में परिवर्तन। रसघात का अर्थ है कर्म के विपाक में परिवर्तन। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि जैन कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म का वेदन एवंभूत और अनेवंभूत दोनों प्रकार से होता है।

वेदना एवं निर्जरा

कर्म के संबंध में सामान्य अवधारणा है—जितना अधिक कष्ट सहन, उतनी अधिक निर्जरा, किंतु यह अवधारणा भी एकांत निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है। कर्म की मुख्यतः दो अवस्थाएं होती हैं—गाढ़ीकृत और शिथिलीकृत। कर्म की गाढ़ीकृत अवस्था में अधिक कष्ट सहने पर भी निर्जरा अल्प होती है। कर्म की शिथिलीकृत अवस्था में अल्पकष्ट सहन करने पर भी निर्जरा अधिक हो जाती है।

अल्पवेदना : महानिर्जरा

श्रमण-निर्ग्रंथ के अल्पवेदना होने पर भी महानिर्जरा होती है। इसका हेतु है कर्म का शिथिलीकृत स्वरूप। छठी एवं सातवीं नारकी के नैरयिकों के महावेदना होती है, पर महानिर्जरा नहीं होती,[24] इसका कारण है उनके कर्म गाढ़ होते हैं। महावेदना और महानिर्जरा का यह सामान्य नियम है। अल्पवेदना और महानिर्जरा—यह इसका अपवादसूत्र है।

निर्जरा का मूल हेतु है—प्रशस्त अध्यवसाय एवं शुभयोग। निर्जरा की न्यूनता या अधिकता अध्यवसाय पर ही निर्भर है। वेदना को सहने में यदि समभाव है तो निर्जरा महान होगी। यदि समभाव नहीं है तो महावेदना होने पर भी अल्पनिर्जरा ही होगी।

वेदना एवं निर्जरा के उदाहरण

भगवती में वेदना एवं निर्जरा के संदर्भ में चार उदाहरण प्राप्त हैं—

1. प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार महावेदना को समभाव से सहन करता है, इसलिए उसके महानिर्जरा होती है। 2. छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक महावेदना को समभाव से सहन नहीं करते, इसलिए उनके अल्पनिर्जरा होती है। 3. शैलेशी अवस्था-प्रतिपन्न अनगार के वेदना अल्प होती है, किंतु समभाव अधिकतम होता है। इसलिए अल्पवेदना की अवस्था में भी महानिर्जरा होती है। 4. अनुत्तर विमान के देवों के वेदना भी अल्प और निर्जरा भी अल्प होती है।[25]

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इन उदाहरणों का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिनमें निर्जरा करने का प्रयत्न होता है, उनके अविपाकी निर्जरा होती है। वे उदीरणा कर अविपक्व कर्मों को उदय में लाकर निर्जीर्ण कर देते हैं। प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार और शैलेशी-प्रतिपन्न अनगार—ये दो इस कोटि के उदाहरण हैं। छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक और अनुत्तरविमान के देव—ये विपाकी निर्जरा के उदाहरण हैं। उनमें निर्जरा का प्रयत्न नहीं होता। अशुभ और शुभकर्म उदयावली में प्रविष्ट होकर अपना फल देकर निवृत्त हो जाते हैं।[26]

वेदना एवं निर्जरा की इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो आगत कष्ट हैं उनको समभावपूर्वक सहन करने से महानिर्जरा होती है तथा अविपाकी कर्म को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर समभावपूर्वक सहन करना साधना का विशिष्ट प्रयोग है। इससे प्रचुर कर्म-निर्जरण होता है।

सिद्धांत को उदाहरण के द्वारा सरल बनाकर समझाना भगवती सूत्र की रचनाशैली की विशेषता है। प्रस्तुत प्रसंग में वस्त्र, अहरण आदि विभिन्न उदाहरण देकर महानिर्जरा, महावेदना आदि की अवधारणा को स्पष्ट किया है।[27]

चलित-अचलित कर्म

कर्म की बंध, उदीरणा, वेदना, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति, निकाचना एवं निर्जरा रूप अवस्थाओं के विशेष विमर्श के समय भगवती सूत्र में चलित एवं अचलित कर्म की चर्चा हुई है।[28] कर्मों की इन अवस्थाओं में बंध, उदीरणा आदि अवस्थाओं में कर्म-पुद्‌गल की कैसी अवस्था रहती है? वे चलित होते हैं अथवा अचलित होते हैं? इसका सापेक्ष वर्णन भगवती में हुआ है।

जीव-प्रदेशों के द्वारा गृहीत होकर जो कर्म-पुद्‌गल स्थित हो जाते हैं, वे अचलित हैं और जो स्थिर अवस्था को छोड़कर प्रकंपित हो जाते हैं, वे चलित कहलाते हैं।[29] कर्म की अवस्थाओं के संदर्भ में चलित और अचलित शब्द का प्रयोग सापेक्ष है। बंध, उदय, वेदन, अपवर्तन, संक्रमण,

निधत्तन और निकाचन जीव-प्रदेशों से अचलित कर्म का होता है तथा निर्जरा जीव-प्रदेशों से चलित कर्म की होती है।[30] जीव कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करता है, तब वे चलित ही होते हैं। ग्रहण के पश्चात् जीव-प्रदेशों में स्थित होकर वे अचलित हो जाते हैं। इस अपेक्षा से बंध अवस्था को अचलित कहा गया है। उदीरणा, वेदना, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति और निकाचना—ये सब कर्म-पुद्गलों की अचलित अथवा जीव-प्रदेशों से संयुक्त अवस्थाएं हैं। जीव-प्रदेशों से विचलित कर्म-प्रदेशों का निर्जरण होता है, इस अपेक्षा से निर्जरा चलित कर्म-पुद्गलों की ही होती है।[31] ठाणं में पुद्गल के चलित होने के दस कारण बतलाए गए हैं। उनमें निर्जरा के समय पुद्गल के चलित होने का उल्लेख मिलता है।[32]

जीव जब कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर रहा है तो प्रस्तुत विवेचन के अनुसार वह कर्म की बंध अवस्था नहीं है, किंतु गृहीत होने के पश्चात् जब वे जीव-प्रदेशों में स्थित होते हैं तब ही उसे बंध-अवस्था कहा जाता है। सामान्यतः बंध, उदय, वेदन, अपवर्तन आदि के समय कर्म-पुद्गलों के चलित होने की अवस्था का भान होता है, किंतु भगवती सूत्रकार इसे अचलित कर्म कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह प्रतीत हो रहा है कि कर्म-पुद्गलों में प्रकंपन होने का अर्थ यहां चलित नहीं है। चलित उसी अवस्था को कहा जाएगा जिसमें कर्म-पुद्गलों का आत्मा से विसंबंध हो जाएगा। जब तक कर्म-पुद्गल जीव-प्रदेशों से संयुक्त हैं, भले उनमें प्रकंपन हो रहा हो, वे अचलित कर्म ही कहलाएंगे।

स्वप्रदेशावगाही पुद्गलों का ग्रहण

जैन परंपरा के अनुसार कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल होते हैं[33] जो कर्मवर्गणा के रूप में संपूर्ण लोक में फैले हुए हैं। जीव अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति से उनको आकृष्ट करके कर्मरूप में परिणत करता है। कर्मवर्गणा के परमाणु संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं, किंतु उन सब कर्म-परमाणुओं का ग्रहण जीव नहीं कर सकता है। जीव उन्हीं कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है, जो उसके प्रदेशों में अवगाढ़ होते हैं अर्थात् जिन आकाश-प्रदेशों पर आत्मा के प्रदेश व्याप्त होते हैं, उन्हीं आकाश-प्रदेशों पर स्थित कर्म-परमाणुओं का ग्रहण जीव द्वारा किया जाता है। अन्य आकाश-प्रदेशों पर स्थित कर्म-पुद्गलों का ग्रहण जीव नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य है कि जीव आत्म-प्रदेशावगाढ़ कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करता है, अनंतर एवं परंपर प्रदेशों पर अवगाढ़ कर्म-पुद्गलों का ग्रहण नहीं करता है।[34]

जीव कभी एक-दो से लेकर अनेक आत्म-प्रदेशों पर अवगाढ़ कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है और कभी सभी आत्म-प्रदेशों पर अवगाढ़ कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। ये दोनों प्रकार के पुद्गल जीव के सभी प्रदेशों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं अर्थात् कर्मबंधकाल में संपूर्ण आत्म-प्रदेश कर्म को ग्रहण करते हैं।[35] ऐसा नहीं होता है कि जिन आत्म-प्रदेशों पर स्थित कर्म-पुद्गलों को जीव ग्रहण करता है, वे ही आत्म-प्रदेश उनको ग्रहण करते हैं। कर्म-ग्रहणकाल में सभी आत्मप्रदेशों की सहभागिता होती है। कर्मप्रकृति में भी यह तथ्य प्रतिपादित हुआ है।[36] भगवती के टीकाकार ने भी जीव का स्वभाव मानकर इस नियम की व्याख्या की है।[37] कर्मग्रहण की प्रक्रिया का दूसरा पहलू है—गृहीत होने वाले पुद्गल। एक काल में जितने कर्म-पुद्गलों का ग्रहण जीव को करना है, उन सबका एक साथ ही ग्रहण हो जाएगा, उनका आंशिक ग्रहण नहीं होगा।[38] कर्मग्रहण की प्रक्रिया में 'सव्वेणं सव्वे' का नियम है अर्थात् आत्मा के संपूर्ण प्रदेश (सव्वेणं) एक काल में जितने कर्म-परमाणुओं का ग्रहण करता है उन सबका (सव्वं) एक साथ ही ग्रहण करते हैं। यह नियम ग्राहक (आत्मा), ग्रहणीय (कर्म-पुद्गल) दोनों से ही जुड़ा हुआ है। जैन कर्मवाद के सिद्धांत में कर्म के विभिन्न पहलुओं पर सूक्ष्मता से विवेचन हुआ है।

कर्मबंध की समानता या विषमता

संसार में शरीर की अपेक्षा से छोटे और बड़े—दोनों ही प्रकार के प्राणी हैं। कुंथु आदि बहुत छोटे शरीर वाले प्राणी हैं और हाथी आदि बहुत बड़े शरीर वाले प्राणी हैं। इस संदर्भ में यह प्रश्न पूछा जाता है कि छोटे और बड़े जीवों को मारने में कर्मबंध समान होगा या भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा।[39]

आगम के व्याख्याकारों ने इस प्रश्न को विभिन्न प्रकार से समाहित करने का प्रयत्न किया है। सूत्रकृतांगचूर्णि में निर्देश है कि अहिंसा की समीक्षा करने वाले प्रस्तुत प्रसंग में अवक्तव्यवाद का प्रयोग करें। चूर्णिकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—यदि छोटे और बड़े—दोनों प्रकार के जीवों के वध में कर्मबंध एक जैसा बतलाया जाए तो बड़े जीवों की हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। यदि भिन्न प्रकार का बतलाया जाए तो छोटे जीवों की हिंसा करने में उन्मुक्तता का समर्थन होता है। इसलिए इस विषय में समान या असमान कर्मबंध कहना धर्मसंकट है। प्रस्तुत प्रसंग में अहिंसा की समीक्षा करने वाले को अवक्तव्य का

प्रयोग करना चाहिए।[40] हर प्रश्न का समाधान भाषा के द्वारा नहीं दिया जा सकता। आचार-मीमांसा के ऐसे प्रश्नों का समाधान भाषागम्य नहीं है। चूर्णिकार इस अभिमत के संपोषक हैं।

कर्मबंध : अध्यवसाय तीव्रता-मंदता

सूत्रकृतांग के टीकाकार प्रस्तुत प्रश्न का समाधान वधक के तीव्र एवं मंद अध्यवसाय के आधार पर देते हैं। सूत्रकृतांग के टीकाकार का अभिमत है कि वध्यप्राणी के आधार पर यदि कर्मबंध होता है तब तो छोटे प्राणी के वध में थोड़ा कर्मबंध और बड़े प्राणी के वध में ज्यादा कर्मबंध होगा, किंतु ऐसा मानना उचित नहीं है। कर्मबंध का संबंध वध्यप्राणी से ही नहीं है, उसका संबंध वध करने वाले के अध्यवसाय से भी है। इस आधार पर यदि कोई प्राणी तीव्र अध्यवसायों से छोटे प्राणी का भी वध करता है तो वह महान कर्मों का बंध करता है और यदि मंद अध्यवसाय से अकाम रहता हुआ बड़े प्राणी का भी वध करता है तो उसके अल्पकर्मों का बंध होता है।

वध्य के छोटे या बड़े के आधार पर ही कर्म का बंध नहीं होता, किंतु कर्मबंध में वधक का तीव्र या मंद अध्यवसाय हेतु बनता है। जानते हुए या अनजान में विपुलशक्ति या अल्पशक्ति के साथ जो वध किया जाता है—ये भी कर्मबंध में कारणभूत बनते हैं। इसलिए कर्मबंध की विचारणा में वध्य और वधक—दोनों पर विचार करना अपेक्षित है।[41]

एक तर्क है कि सब जीव समान हैं। छोटे-बड़े संबमें आत्म-प्रदेशों की समानता है। इसलिए इनके वध में समान कर्मबंध होना चाहिए। वृत्तिकार के अनुसार यह अभिमत युक्तिसंगत नहीं है। आत्मा अमर है। वह कभी नहीं मरती। उसकी हिंसा नहीं की जा सकती। हिंसा का जहां कथन होता है वहां प्राणियों की इंद्रियों का हनन, श्वासोच्छ्वास का हनन विवक्षित होता है। इसलिए कर्मबंध में अध्यवसाय ही मुख्य कारण है। तीव्र अध्यवसाय एवं मंद अध्यवसाय में कृत हिंसा से कर्मबंध एक जैसा नहीं होगा। उसमें आनुपातिक अंतर अवश्य रहता है।

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि डॉक्टर किसी रोगी का ऑपरेशन करता है, उसकी भावना रोगी को रोगमुक्त करने की है। रोगी शल्यक्रिया के समय कष्ट का अनुभव करता या अकस्मात् रोगी का प्राणांत भी हो जाता है। इसमें डॉक्टर प्राण के व्यपरोपण या कष्ट-प्रदान के कारण सघन कर्मबंध का भागी नहीं बनता, क्योंकि उसका अध्यवसाय क्लिष्ट नहीं है।

इसके विपरीत एक व्यक्ति रज्जु को सर्प मानकर उसके टुकड़े-टुकड़े करता है तो भी वह हिंसा के कर्मबंध का भागी होता है, क्योंकि उसका अध्यवसाय क्लिष्ट है, हिंसा के भाव से युक्त है। इसलिए कर्मबंध की प्रक्रिया में अध्यवसाय की मंदता, तीव्रता एवं मध्यस्थता महत्त्वपूर्ण निमित्त बनती है। इस प्रसंग में तंदुल, मत्स्य, कालसौकरिक कसाई आदि के उदाहरण मननीय हैं। ❖

संदर्भ सूची

1. ठाणं 4/603, चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—
   सुभे नाममेगे सुभविवागे, सुभे नाममेगे असुभविवागे,
   असुभे नाममेगे सुभविवागे, असुभे नाममेगे असुभविवागे।
2. जैन सिद्धांत दीपिका 4/5 बंध-उद्वर्तना-अपवर्तना-सत्ता-उदय-उदीरणा-संक्रमण-उपशम-निधत्ति-निकाचनास्तदवस्थाः।
3. भगवई (खंड-1) (भगवतीवृत्ति 1/24) यथा कस्यचित् सद्वेद्यमनुभवतोऽशुभकर्मपरिणतिरेवंविधा जाता येन यदेव सद्वेद्यमसद्वेद्यतया संक्रामतीति।
4. अंगसुत्ताणि 2, (भगवई) 1/45, 47
5. वही, 12/22-25
6. वही।
7. कर्मप्रकृति, गाथा 2
   बंधणसंकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया।
   उवसामणा निहत्ती निकायणा चत्ति करणाइं।।
8. पंचसंग्रह (श्वे.) गाथा 253 संपत्तिए य उदये पओगओ दिस्सई उईरणा सा।
9. तत्त्वार्थराजवार्तिक (ले. आचार्य अकलंक, दिल्ली, 1993) II 9/36/9 अयथाकाल-विपाक उदीरणोदयः।
10. अंगसुत्ताणि 2, (भगवई) 1/156
11. षट्खण्डागम धवला पु. 13, खण्ड 4, भाग 2, सूत्र 2, पृ. 303 फलदातृत्वेन परिणतः कर्मपुद्गलस्कन्धः उदीर्णः
12. भगवई (खण्ड-1), पृ. 372, (भगवती वृत्ति 1/148) इहानुदीर्णं-चिरेण भविष्यदुदीरणम् अभविष्यदुदीरणम् च।
13. कर्म प्रकृति, (ले. शिवशर्मसूरि, बीकानेर, 1982) गाथा 2 की टीका, पृ. 48-49
14. भगवई (खण्ड-1), पृ. 372 (भगवती वृत्ति 1/148) उदयेनान्तरसमये पश्चात् कृतम्—अतीततां नीतं यत्तत्तथा तदपि नोदीरयति तस्यातीतत्वाद् अतीतस्य चासत्त्वाद् असतश्चानुदीरणीयत्वादिति।
15. भगवई (खण्ड-1), पृ. 373, (भगवती वृत्ति 1/151) उपशमश्चोदीर्णस्य क्षयः अनुदीर्णस्य च विपाकतः

प्रदेशतश्चानुभवनं, सर्वथैव विष्कम्भितोदयत्वमित्यर्थः।

16. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 7/75 गोयमा! कम्मं वेदणा, नोकम्मं निज्जर...

17. वही, 7/75 जा वेदणा न सा निज्जरा जा निज्जरा न सा वेदणा।

18. तत्त्वार्थसूत्र भाष्य 9/7 (निर्जरानुप्रेक्षा) निर्जरा, वेदना, विपाक इत्यनर्थान्तरम्।

19. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका 9/7 तत्र वेदना अनुभवः तस्या स्वादनं विपचनं विपाकः,....निर्जरा आत्मप्रदेशभ्योऽनुभूत रसकर्मपुद्गलपरिशाटना।

20. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 5/116, 117

21. मज्झिम निकाय (संपा. भिक्षु जगदीशकाश्यप, नालन्दा, 1958) देवदत्तसुत्त 3/1/1

22. भगवती वृत्ति 5/116, न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मानुभूयते, आयुः कर्मणो व्यभिचारात्, तथाहि— दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुः कर्मणोऽल्पीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति, कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात्? कथं वा महासंयुगादौ जीवलक्षणामत्येकदैव मृत्युरूपपद्येतेति?

23. भगवती वृत्ति 5/117—यथा बद्धं कर्म नैवंभूता अनेवंभूता अतस्तां श्रूयन्ते ह्यागमे कर्मणः स्थितिघातरसघातादय इति।

24. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 6/4

25. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 6/16

26. भगवई (खण्ड-2), पृ. 225

27. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 6/4

28. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 1/28-31

29. भगवई (खण्ड-1), पृ. 356 (भगवती वृत्ति 1/28-32) जीवप्रदेशेभ्यश्चलितं-तेष्वनवस्थानशीलं तदितरत्त्वचलितम्

30. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 1/31 संग्रहणी गाथा—
बंधोदयवेदोयट्टसंकमे तह निहत्तणनिकाए।
अचलिकम्मं तु भवे, चलियं जीवाउ निज्जरए॥

31. भगवई (खण्ड-1), पृ. 356 (भगवती वृत्ति 1/28-32) निर्जरा तु पुद्गलानां निरनुभावीकृतानामात्मप्रदेशेभ्यः सातनम्। सा च नियमाच्चलितस्य कर्म्मणो नाचलितस्येति।

32. ठाणं 10/6 दसेहिं ठाणेहिं अच्छिण्णे पोग्गले चलेज्जा... णिज्जरिज्जमाणे वा चलेज्जा।

33. गाथा 16/16 कम्मगसरीरे चउफासे

34. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 6/186 आयसरीरखेत्तोगाढ़े पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति, नो अणंतरखेत्तोगाढ़े पोग्गले आहारेंति, नो परंपरखेत्तोगाढ़े पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति।

35. वही, 1/119....सव्वेणं सव्वे कडे।

36. कर्मप्रकृति 21, एगमवि गहणदव्वं, सव्वप्पणयाए जीवदेसम्मि। सव्वप्पणया सव्वत्थ वावि सव्वे गहणखंधे॥

37. भगवती वृत्ति 1/119 जीवस्वाभावव्यात् सर्वस्वप्रदेशा- वगाढ़तदेकसमयबन्धनीयकर्मपुद्गलबन्धने सर्वजीवप्रदेशानां व्यापार इत्यत उच्यते—सर्वात्मना।

38. वही, 1/119—सर्वं तदेककालकरणीयं कांक्षामोहनीयं कर्म।

39. सूयगडो 2/5/6 जे केई खुड्डगा पाणा अदुवा संति महालया। सरिसं तेहिं वेरं ति असरिसं ति य णो वए॥

40. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृष्ठ 405

41. सूत्रकृतांग टीका, पत्र 122

❖❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

महावीर ने अपरिग्रह और व्यक्तिगत उपभोग के सीमांकन के द्वारा उत्पादन के संसाधनों को आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए विमुक्त किया। दूसरे—उन्होंने किन वस्तुओं का उत्पादन न हो—ऐसा निर्देश भी दिया। उन्होंने कहा—1. 'अहिंसप्पयाणे' अर्थात् हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करें 2. 'असंजुत्ताहिकरणे'—शस्त्रों का संयोजन न करें एवं 'अपाव कम्मो वदे से'—पापकर्म, हिंसा आदि का प्रशिक्षण न दें। तीसरा—जो अपने-आप में एक क्रांतिकारी चिंतन था—उत्पादन में साधन-शुद्धि के अन्य निर्देशों में उन्होंने भत्तपान विच्छेद न करने को (आजीविका का विच्छेद न करे एवं किसी का शोषण न करे) शामिल किया। उत्पादन के साधनों में श्रम एवं संपदा (बौद्धिक एवं तकनीकी) मुख्य हैं। संपदा भी कई मायनों में पूर्व के उपार्जन का संचयन ही है। महावीर ने श्रम के पारिश्रमिक में भी संयम का विधान किया। ❑

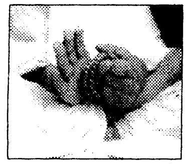

महावीर का अर्थशास्त्र : उत्पादन की प्राथमिकताएं

❑ माणकचंद सिंघी

यह एक सर्वमान्य अवधारणा है कि जैन धर्म में—जो कि मुख्यतः निवृत्तिमूलक है—अर्थ के उपार्जन और उपभोग पर शायद ही कोई विवेचना हुई हो। किसी सीमा तक यह सही भी है। मध्ययुगीन और नव जैन साहित्य में भी—अर्थ पर अपेक्षाकृत कम ही लिखा गया है।

वैदिक धर्म, संस्कृति और दर्शन में भी निवृत्ति में ही व्यक्ति की चरम निष्पत्ति मानी गई है। त्याग की महिमा यहां भी सर्वोपरि है। किंतु यहां प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ऊर्ध्वारोहण है। अर्थशास्त्र के जिस स्वरूप को हम आज समझते हैं, वैदिक साहित्य और अन्य परवर्ती ग्रंथों में भी, उस रूप में अर्थ का विवेचन नगण्य-सा ही मिलता है।

भारतीय अर्थ-सेवा के वरिष्ठ अधिकारी श्री माणकचंद सिंघी वर्तमान में भारत के लेखा नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक के कार्यालय में आर्थिक सलाहकार के रूप में कार्यरत हैं। देश की वित्तीय स्थिति, औद्योगिक विकास और मूल्यांकन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ-साथ आर्थिक-नीतियों पर भी श्री सिंघी अलग-अलग हैसियत में कार्य कर चुके हैं। भारत सरकार में विभिन्न विभागों में कार्य करने के साथ-साथ मध्यप्रदेश शासन में भी आप वित्तीय सलाहकार रहे हैं। भारत से बाहर विभिन्न देशों की सम-सामयिक वित्तीय परिस्थितियों और आर्थिक नीतियों पर अध्ययशील श्री सिंघी ने इस आलेख में महावीर के सिद्धांतों को अर्थ-शास्त्रीय दृष्टि से उजागर करने की कोशिश की है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के बहुचर्चित ग्रंथ 'महावीर का अर्थशास्त्र' के बाद एक अर्थशास्त्री के रूप में संभवतः श्री सिंघी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने महावीर के इस पक्ष पर दृष्टिपात किया है।

जैन एवं पूर्व के अन्य सभी दर्शन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—पुरुषार्थ की इस चतुष्पदी को समर्थन देते हैं। 'धर्म से सुख और अर्थ से धर्म'—यह एक सर्वमान्य धारणा रही है और इसे व्यापक समर्थन भी मिला है। 'सुखस्य मूलम् धर्मम्, धर्मस्य मूलम् अर्थ'—चाणक्य के अर्थशास्त्र का भी यही सूत्र है। पुरुषार्थ की इस चतुष्पदी के अर्थ का संकीर्ण और व्यापक—दोनों ही रूपों में प्रयोग हुआ है। संकीर्ण अर्थ में यह धन-संपत्ति का पर्याय है, तो व्यापक रूप में इसे उत्पादन, उपभोग, वितरण, उत्पादन-प्रक्रिया के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। चाणक्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में अर्थ को संकीर्ण और व्यापक—दोनों रूपों में निरूपित किया है। व्यापक रूप में प्रयुक्त अर्थ आज के अर्थशास्त्र की अवधारणा के अनुरूप ही है। जैन दर्शन और साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

अर्थ का महत्त्व तो निर्विवाद रहा है, किंतु जैन और पूर्व के अन्य दर्शनों के अनुसार अर्थ के उपार्जन के स्वरूप और उसके उपभोग के

दिशा-निर्देशों की अनदेखी करके अर्थ के महत्त्व की समीक्षा नहीं की जा सकती। गरुड़पुराण धन को प्राप्त होने के तरीकों के अनुसार शुक्ल, शबल और कृष्ण—इन तीन रूपों में परिभाषित करता है। जैन धर्म में व्यक्तिगत अर्थसंग्रह को परिग्रह माना है और आश्रव कर्म-बंध का प्रमुख हेतु भी। महावीर के दर्शन में साधन एवं साध्य—दोनों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। उन्होंने अर्थ के उपार्जन एवं उपभोग और उसके वितरण पर विशद चिंतन प्रस्तुत किया है। महावीर के परवर्ती जैन ग्रंथों में भी इसी चिंतन के आधार पर अर्थशास्त्र के इन प्रमुख घटकों पर जैन मत का प्रतिपादन भी हुआ है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी-कृत 'महावीर का अर्थशास्त्र' पुस्तक जैन दर्शन में अर्थशास्त्र की परिकल्पना को एक साकार रूप दे चुकी है। प्रश्न है कि क्या आज की परिस्थितियों में महावीर के अर्थशास्त्र को समीचीन माना जा सकता है?

महावीर ने न तो अर्थशास्त्र और न ही किसी अन्य ग्रंथ की रचना की थी। उन्होंने अपने प्रवचनों के माध्यम से अपने शिष्यों अथवा श्रावकों की जिज्ञासाओं का समाधान किया था। महावीर 'शाश्वत' के प्रवक्ता थे, किंतु जिज्ञासाएं सामयिक थीं। उनके उत्तर रूढ़ बनकर अंधविश्वास न बनें, इसलिए उन्होंने जिज्ञासुओं को 'अनेकांत' की दृष्टि दी, जिससे सार्वकालिक सत्य को भी सामयिक रूप में निरूपित किया जा सके। उन्होंने शिष्यों एवं श्रावकों से सत्य को स्वयं समझने का आग्रह किया। जैसा कि टी. एच. हक्सले ने कहा—'यह तो नव प्रतिपादित सत्यों की पारंपरिक नियति है कि वे अपसिद्धांत से प्रारंभ कर अंततः अंधविश्वास का रूप धारण कर लेते हैं।' अनेकांत महावीर के विचार और दर्शन को—जिसमें उनके अर्थ के उपार्जन, वितरण और उपभोग के चिंतन भी शामिल हैं— सार्वकालिकता एवं सामयिकता तो प्रदान करता ही है, उन्हें रूढ़ भी नहीं बनने देता।

यह भी सर्वविदित है कि अर्थशास्त्र की जैन अवधारणा महावीर से भी पूर्ववर्ती है। यह मान्यता है कि सर्वप्रथम भगवान ऋषभ ने मनुष्य को व्यवसाय का ज्ञान दिया था। उनके बताए असि, मसि एवं कृषि आदि को व्यवसाय और श्रम, साधन और बौद्धिक संपदा आदि उत्पादन के कारकों को आज के औपचारिक अर्थशास्त्र का भी जनक कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। युगानुकूल मार्गदर्शन तीर्थंकरों की अनुकंपा रही है और इस तरह प्रमुखतः निवृत्तिमूलक जैन धर्म और अर्थ के विवेचन में कोई असंगति भी नहीं है।

वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन एवं प्रदाय में बाजारतंत्र की प्रमुख भूमिका रही है। 'बाजार प्रक्रिया (जिसे लेकर पक्ष एवं विपक्ष में बहुत सशक्त तर्क दिए जाते हैं) एक बुनियादी व्यवस्था रही है, जिसके माध्यम से लोग एक-दूसरे से लेन-देन करते हुए पारस्परिक हित-साधन की क्रियाएं संपन्न कर सकते हैं'—(अमर्त्य सेन-आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य)। बाजार मूल्यों के माध्यम से सदियों से वस्तुओं के उत्पादन और उनके उत्पादों की सीमा का निर्धारण करता आया है। किंतु जानकारियों के अनिर्बंध दुराव-छिपाव और विषमतापूर्ण परिस्थितियों के कारण बाजारतंत्र उत्पादन की प्राथमिकताएं कुशलतापूर्वक तय नहीं कर सकता। बाजारतंत्र की एकमात्र संप्रेरणा आत्महित को अधिकतम स्तर तक ले जाना होता है। चूंकि अन्य किसी के हितों पर आघात किए बिना अपने हितों का संवर्धन मुश्किल होता है, आर्थिक रूप से कमजोर समुदाय की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं पर बाजारतंत्र खरा नहीं उतरता। सामुदायिक वस्तुओं अथवा सुविधाओं के उत्पादन की प्राथमिकताएं निश्चित करने में तो बाजारतंत्र ज्यादातर असमर्थ ही होता है।

बाजारतंत्र—जो आज की अर्थव्यवस्था में एक मुख्य मध्यस्थ है—की इन खामियों का ज्ञान आर्थिक समस्याओं का सर्वश्रेष्ठ समाधान मानने वालों को भी रहा है। इन खामियों की जानकारी शुरू से ही रही है, ऐसा मानना भी अनुचित नहीं लगता। चाणक्य ने भी बाजार पर नियंत्रण को राज्य के अनिवार्य कार्यों में शामिल किया था। इस नियंत्रण के साथ-साथ उन्होंने राज्य के वंचित/अभावग्रस्त वर्ग के लिए विशेष प्रबंध करना भी राज्य का दायित्व सुझाया था। चाणक्य ने कुछ उद्योगों को भी निजी स्वामित्व की परिधि के बाहर रखा था। वर्तमान में भी राज्य द्वारा आवश्यक वस्तुओं के निश्चित उत्पादन एवं वितरण, बेरोजगारी भत्ता, रोजगार के अवसरों का सृजन और न्यूनतम मजदूरी जैसे क्रयशक्ति बढ़ाने के प्रयोगों को साम्यवादी, पूंजीवादी एवं मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में भी मान्यता दी गई है।

महावीर ने उत्पादन क्या हो—इसके कोई प्रतिमान नहीं बताए। न ही उन्होंने उत्पादन की कोई निश्चित प्राथमिकताएं तय कीं। बाजारतंत्र की खामियों को दूर करने के लिए शासन के नियंत्रण के बजाय उन्होंने व्यक्ति के स्वयं के अनुशासन को सुदृढ़ करना उचित समझा। उत्पादन की प्राथमिकताओं के संदर्भ में महावीर के दर्शन में तीन

मुख्य बातें सामने आती हैं, जिन्हें उत्पादन की प्राथमिकताओं के कारक घटक कहा जा सकता है।

प्रथम तो यह कि महावीर ने अपरिग्रह और व्यक्तिगत उपभोग के सीमांकन के द्वारा उत्पादन के संसाधनों को आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए विमुक्त किया। दूसरे—उन्होंने किन वस्तुओं का उत्पादन न हो—ऐसा निर्देश भी दिया। उन्होंने कहा—1. 'अहिंसप्पयाणे' अर्थात् हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करें 2. 'असंजुत्ताहिकरणे'— शस्त्रों का संयोजन न करें एवं 'अपाव कम्मो वदे से'— पापकर्म, हिंसा आदि का प्रशिक्षण न दें। तीसरा—जो अपने-आप में एक क्रांतिकारी चिंतन था—उत्पादन में साधन-शुद्धि के अन्य निर्देशों में उन्होंने भत्तपान विच्छेद न करने को (आजीविका का विच्छेद न करे एवं किसी का शोषण न करे) शामिल किया। उत्पादन के साधनों में श्रम एवं संपदा (बौद्धिक एवं तकनीकी) मुख्य हैं। संपदा भी कई मायनों में पूर्व के उपार्जन का संचयन ही है। महावीर ने श्रम के पारिश्रमिक में भी संयम का विधान किया।

महावीर का दर्शन न तो नैराश्य का है और न ही निर्यात का। गरीबी अथवा वंचना उनके अनुसार शाश्वत नहीं है, न ही यह कर्मकृत है और न कोई ईश्वरीय देन। गरीबी/वंचना मनुष्यकृत है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव-कृत है। यह मानवीय है और इसे व्यवस्था द्वारा बदला जा सकता है। व्यवस्था का यह परिवर्तन अगर किसी शासन के आदेश का मोहताज न होकर, व्यक्ति की अपनी समझ से उपजे तो यह ज्यादा टिकाऊ हो सकता है।

महावीर जानते थे कि मनुष्य की इच्छाएं आकाश की तरह अनंत हैं और इच्छाओं के अनुपात में संसाधन सीमित हैं। महावीर जानते थे कि वैयक्तिक क्षमताएं भिन्न-भिन्न हैं और उसी अनुपात में है आय की न्यूनता का आधिक्य। इस वैषम्य के बावजूद उन्होंने मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति को आवश्यक बताया और आजीविका के अधिकार को मूलभूत अधिकार के समतुल्य समझा।

महावीर जानते थे कि व्यक्ति स्वयं में एक उत्पादक भी है और एक उपभोक्ता भी। वह उपभोक्ता पहले है, क्योंकि उत्पादक न होने पर भी उपभोग की आवश्यकता तो उसे है ही। कुछ काल तक वह उपभोग के लिए सामाजिक-सुरक्षा पर भी निर्भर रह सकता है, किंतु दीर्घकाल तक आजीविका के अभाव में उपभोग की यह संरचना उसके आत्म-सम्मान के अनुरूप नहीं हो सकती। अतः उसकी उत्पादक-शक्ति एवं सामर्थ्य का उपयोग समुदाय के लिए भी आवश्यक है। आजीविका की गारंटी इस अर्थ में निश्चय ही क्रांतिकारी अवधारणा है।

महावीर के इच्छाओं पर संयम के सिद्धांत को एक स्तर पर स्थिर रहना—समझना शायद उचित नहीं होगा। महावीर विकास के विरोधी नहीं थे। कर्म में उनका विश्वास था और उनका मत था कि कर्म करना व्यक्ति चाहकर भी नहीं छोड़ सकता। कर्म की परिणति यदि संसाधनों के विस्तार और संपदा के संवर्धन में न हो तो कर्म और संप्रेरणाओं का तारतम्य बिठाना मुश्किल होगा। इच्छाओं के संयम के सिद्धांत को वर्गविशेष में इच्छाओं के संतुलन को बनाए रखने के रूप में समझना ज्यादा सटीक लगता है।

उत्पादन के साधन अनंत इच्छाओं के अनुपात में सीमित रहते हुए भी अनंत हैं। बौद्धिक संपदा के विकास और द्रव्य, काल एवं क्षेत्र के प्रभाव से उत्पादन के विशिष्ट संसाधनों में घट-बढ़ भी हो सकती है। किंतु संसाधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व से अलग, इन संसाधनों के सामुदायिक स्वामित्व को यदि परिग्रह की परिधि से बाहर रखा जाए तो विकास के चक्र का अंतर्विरोध काफी हद तक कम हो जाता है। द्रव्य, काल, भाव व क्षेत्र के अनुसार संसाधनों में घट-बढ़, वैज्ञानिक उन्नति और नए संसाधनों की खोज और उनकी सीमितता अथवा असीमितता आज की अवधारणा से अलग नहीं हैं। इसी तरह संसाधनों का सामुदायिक स्वामित्व गांधी के 'ट्रस्टीशिप' सिद्धांत का ही पूर्वरूप है।

उत्पादन की प्राथमिकताओं में महावीर ने पर्यावरण संतुलन को भी आवश्यक माना। 'वण कम्मे'—वनों की कटाई न हो, 'फोड़ी कम्मे'—भूमि का उत्खनन न हो, ये महावीर के उस समय के सूत्र हैं जब पर्यावरण संतुलन का प्रश्न गौण ही था।

महावीर की उत्पादन की प्राथमिकताएं अनकही होकर भी स्पष्ट प्रतीत होती हैं। इन प्राथमिकताओं के लिए उन्होंने व्यक्ति के मानस को झंझोड़ना ही उचित समझा। उनके व्यक्तिगत उपभोग की सीमा द्वारा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए विमुक्त हुए संसाधनों का सिद्धांत, कुछ वस्तुओं के उत्पादन का निषेध, उत्पादन के साधन-शुद्धि के अंतर्गत भक्तपान-विच्छेद का निषेध और पर्यावरण संतुलन आदि उत्पादन की प्राथमिकताएं निर्धारित करने के कारक तत्त्व हैं, जो आज भी प्रासंगिक हैं। ❖

जिस तरह मनुष्य, पशु आदि थकान अनुभव करते हैं और थकान के जो लक्षण इन पर दिखते हैं, उसी तरह के लक्षण पौधों में भी पाए जा रहे हैं। जैन दर्शन में प्रयुक्त वनस्पति संबंधी यह अवधारणा लाखों वर्ष प्राचीन है जिसे विज्ञान जगत में भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बसु ने सिद्ध कर बताया। पेड़-पौधों अर्थात् वनस्पति में भी जीवन होता है—इस वैज्ञानिक निष्कर्ष से सारे विश्व में हलचल-सी मच गई। जैन मतावलंबी और मनीषी यह सब देख-सुनकर आश्चर्यचकित थे कि प्राचीन जैन आगमों एवं शास्त्रों में तो यह तथ्य पहले से ही सिद्ध है। विज्ञान ने जब इसे सिद्ध करके बताया तो लोगों को यह एक नई खोज लगी।

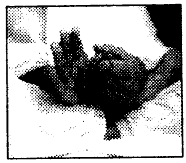

वनस्पतिकाय : जैन मान्यता और आधुनिक विज्ञान

डॉ. फूलचंद जैन 'प्रेमी'

जैन धर्म ने अपने जिन शाश्वत सिद्धांतों का प्रतिपादन प्रारंभ से किया, हजारों-हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज वे चिरनवीन हैं तथा आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर पूर्णतः सत्य सिद्ध होते हैं। 'वनस्पति' संबंधी मान्यता को ही लें। वनस्पति में 'जीव' संबंधी जैन मान्यता को काफी समय तक एक वर्ग स्वीकार नहीं करता था, किंतु विज्ञान ने जब इसे सिद्ध कर दिया तो यह वर्ग निरुत्तर हो गया। विज्ञान के प्रयोगों से उसे पूर्णतः सत्य सिद्ध करने का श्रेय भारतीय वैज्ञानिक प्रोफेसर जगदीशचंद्र बसु को प्राप्त हुआ। अनेक वर्षों के गहन अनुसंधान के बाद उन्होंने प्रयोगों के द्वारा पौधों में जीवन के लक्षण सिद्ध किए और यह निष्कर्ष निकाला कि पौधे भी संवेदनशील होते हैं, वे भी बाहरी उत्तेजना या बाधाओं पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। प्रोफेसर बसु ने वनस्पति के जीवन को साक्षात् देखने, मापने के लिए 'क्रेस्कोग्राफ' नामक एक अत्यंत संवेदनशील यंत्र बनाया। इसकी सहायता से पौधों की अनुक्रियाओं (रेस्पांसेज) के 'ग्राफ' तैयार किए जाते हैं और यह जाना जाता है कि पौधों को आघात (कष्ट आदि) पहुंचाने पर वे क्या अनुभव करते हैं? उन्होंने पौधों पर अनेक तरह के प्रयोग किए और जाना कि जिस तरह मनुष्य, पशु आदि थकान अनुभव करते हैं और थकान के जो लक्षण इन पर दिखते हैं, उसी तरह के लक्षण पौधों में भी पाए जा रहे हैं। जैन दर्शन में प्रयुक्त वनस्पति संबंधी यह अवधारणा लाखों वर्ष प्राचीन है जिसे विज्ञान जगत में भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बसु ने सिद्ध कर बताया। पेड़-पौधों अर्थात् वनस्पति में भी जीवन होता है—इस वैज्ञानिक निष्कर्ष से सारे विश्व में हलचल-सी मच गई। जैन मतावलंबी और मनीषी यह सब देख-सुनकर आश्चर्यचकित थे कि प्राचीन जैन आगमों एवं शास्त्रों में तो यह तथ्य पहले से ही सिद्ध है। विज्ञान ने जब इसे सिद्ध करके बताया तो लोगों को यह एक नई खोज लगी।

सर जगदीशचंद्र बसु ने एक प्रयोग से यह भी सिद्ध किया कि पौधों को 'क्लोरोफार्म' के द्वारा निष्चेत किया जा सकता है। उसका प्रभाव समाप्त होने के बाद वनस्पतियां भी हमारी ही तरह सचेत हो उठती हैं। उन्होंने पौधों पर मदिरा का प्रयोग भी किया। यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि मदिरा के प्रभाव से अन्य प्राणियों की तरह वे भी मदहोश हो उठते हैं। उन्होंने यंत्र के माध्यम से यह भी देखा कि पातगोभी और गाजर को चाकू आदि से काटने पर वे कांप उठते हैं। लोग यह जानकर आश्चर्यचकित रह गए कि वनस्पति आदि जिन पदार्थों को लोग प्रायः निर्जीव (निष्प्राण) एवं संज्ञाहीन मानते थे—उन पर भी मदिरा, विष, चोट, आघात की वही प्रतिक्रिया होती है जो मनुष्य या पशु आदि की मांसपेशियों पर होती है। पौधों में भी हमारी तरह जीवत्व गुण होता है, जिसकी मदद से वे अपने-आप को और अपने परिवेश को जानते-समझते हैं। भारत में इस वैज्ञानिक खोज का प्रथम श्रेय प्रो. बसु को प्राप्त है।

पेड़-पौधे भावनाप्रधान होते हैं—यह बात अब वैज्ञानिक तथ्य है। बेजुबान होने के बावजूद वे बहुत-कुछ

महसूस कर सकते हैं। वे अपने संरक्षणदाता से प्यार और यातना देने वाले से नफरत भी करते हैं। पेड़-पौधों की संवेदनशीलता पर विभिन्न देशों में चल रही खोजों ने ऐसे अनेक रहस्यों से परदा हटाया है, जिन पर सहसा विश्वास नहीं होता। अमेरिकी वैज्ञानिक क्लाईव वेक्सीटर ने पेड़-पौधों की संवेदनशीलता पर कई दिलचस्प प्रयोग किए हैं। एक बार उन्होंने पौधे की यातना और दुख की अनुभूति को रिकार्ड करने का प्रयोग किया। उन्होंने एक पौधे को सूक्ष्म संवेदना दर्ज करने वाली एक मशीन से जोड़ा और फिर उस पौधे को गमले से उखाड़ फेंकने के बारे में सोचा। उनके आश्चर्य की तब सीमा नहीं रही जब उन्होंने पाया कि उनके ऐसा सोचने-भर से पौधे से जुड़ी मशीन के ग्राफ में कंपन पैदा होने लगा। उन्होंने यह प्रयोग कई बार दोहराया।

पेड़-पौधे काफी संवेदनशील होते हैं। उनके प्रति स्नेह रखने वालों से वे गहरा अपनत्व महसूस करते हैं। इसका प्रमाण उक्त अमेरिकी वैज्ञानिक को तब मिला जब एक दिन प्रयोगशाला में पौधों पर अध्ययन के दौरान उनकी अंगुली कट गई और उससे खून बहने लगा। उसी समय उनकी नजर पौधे से जुड़े 'गैलोविनोमीटर' नामक उपकरण पर पड़ी। उन्होंने देखा कि मीटर की सुई में कंपन पैदा हो रहा था। उनकी वेदना पौधे को महसूस हो रही थी। एक अन्य प्रयोग में उक्त वैज्ञानिक ने अपने संरक्षित पौधों के सामने एक माली को गुजारा। इस दौरान मशीन से जुड़ी मीटर की सुई शांत रही। लेकिन जैसे ही एक लकड़हारे को उन पौधों से होकर गुजारा, मीटर की सुई ने कंपन पैदा कर पौधे की बेचैनी प्रकट कर दी। रूसी वैज्ञानिक तथा मनोरोग विशेषज्ञ वी. एन. पुश्किन ने अपने अनुसंधानों में भी यह सिद्ध किया है कि पेड़-पौधों एवं मानव के तंत्रिका-तंत्र (नर्वस सिस्टम) में कहीं-न-कहीं गहरा संबंध जरूर है (दैनिक राष्ट्रीय सहारा, 16/2/1999 के अंक से)।

दक्षिणी यूरोप में पाए जाने वाले 'मैड्रांक' नामक वृक्ष की संवेदना को वहां के निवासी प्रायः प्रत्यक्ष ही देखते हैं। यह वृक्ष दूर से देखने पर कंधे पर हाथ रखे आदमी की तरह नजर आता है। इसकी विशेषता यह है कि इसे जड़ समेत उखाड़ने पर यह बच्चों की तरह आंसू बहाने लगता है। जब इस पर कोई प्रहार होता है, तब भी यह रोने लगता है। इस तरह वनस्पति जगत में जहां जीवत्व संबंधी अवधारणा की विज्ञान ने पुष्टि की, वहीं उसकी संवेदनशीलता तथा विविध शक्ति-संपन्नता भी सिद्ध हुई।

जैन दर्शन की वनस्पति जीव संबंधी विवेचना की तरह ही 'शब्द' की पौद्गलिकता आदि अनेक जैन सिद्धांत जैसे-जैसे विज्ञान द्वारा सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं, लोगों का विश्वास और लगाव जैन दर्शन और धर्म के प्रति गहरा होता जा रहा है। इसीलिए यह कहना प्रासंगिक होगा कि जैन धर्म और दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में गहन अध्ययन-अनुसंधान की आज के संदर्भ में पहले से कहीं अधिक आवश्यकता है।

जैन धर्म और दर्शन के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छह द्रव्य हैं। इनका विशेष विवेचन आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र और इस पर लिखित अनेक टीका ग्रंथों तथा जैन साहित्य के शताधिक ग्रंथों में उपलब्ध है। इन छह द्रव्यों में प्रथम जीवद्रव्य चैतन्यवान है। तत्त्वार्थसूत्र (2/8) में 'उपयोगो लक्षणम्' सूत्र के माध्यम से उपयोग (ज्ञान, दर्शन, रूप, स्वभाव) को जीव का लक्षण कहा है। जीव के दो भेद हैं : संसारी और मुक्त। संसारी जीव के छह भेद हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस। इनमें प्रारंभ के पांच जीव स्थावर एवं एकेंद्रिय कहे जाते हैं। द्वींद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के विषय में यदि जैनशास्त्रों का सूक्ष्मतम, गहन तथा वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए तो वनस्पति जगत संबंधी यह प्राचीन अध्ययन विश्व को जैन धर्म का एक अनुपम और महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध हो सकता है तथा आज भी जैनशास्त्रों के इस संबंधी अनेक तथ्य विज्ञान के लिए 'नवीन' हो सकते हैं।

वनस्पति : जैन धर्म की दृष्टि में स्वरूप-विवेचन

जिस जीव के वनस्पति नामकर्म का उदय रहता है, वही जीव वनस्पति शरीर में जन्म लेता है। इसके केवल स्पर्शन इंद्रिय ही होती है तथा संस्थान नामकर्म के उदय से संस्थान होता है। स्थावर जीवों में वनस्पति एकेंद्रियकाय जीव के दो भेद हैं—प्रत्येककाय और अनंतकाय या साधारणकाय वनस्पति। इनमें प्रत्येककाय बादर या स्थूल ही होता है, पर साधारणकाय बादर और सूक्ष्म दोनों रूप होता है।[1]

प्रत्येककाय वनस्पति : सामान्यतः एक जीव का एक शरीर अर्थात् जिनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है[2] या एक-एक शरीर के प्रति एक-एक आत्मा को प्रत्येककाय कहते हैं।[3] जैसे खैर (कत्था) आदि वनस्पति। जितने प्रत्येक शरीर हैं, वहां उतने प्रत्येक वनस्पति जीव होते हैं, क्योंकि एक-

एक शरीर के प्रति एक-एक जीव होने का नियम है।[4] अर्थात् एक शरीर में एक जीव होने वाली वनस्पति को प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

अनंतकाय (साधारण) वनस्पति :

जिसमें एक शरीर में अनंत जीव हैं अर्थात् अनंत जीवों के सम्मिलित शरीर को अनंतकाय या साधारण शरीर कहते हैं।[5] क्योंकि उस शरीर में अनंत जीवों का जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास आदि साधारण (समान) रूप से होता है, अर्थात् एक साधारण शरीर में अनंत जीवों का अवस्थान होता है। जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है, वहां अनंत जीवों की उत्पत्ति होती है तथा जिस शरीर में एक जीव मरता है, वहां अनंत जीवों का मरण होता है।[6] धवला के अनुसार बहुत जीवों का जो एक शरीर है—वह साधारण शरीर कहलाता है। उसमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं।[7] इन साधारण जीवों का आहार साधारण (समान) ही होता है और समान ही श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं। अर्थात् एक साथ उत्पन्न जिन अनंतानंत जीवों को आहारादि पर्याप्ति तथा उनके कार्य समान काल में होते हों, उन साधारण जीवों का लक्षण साधारण कहा है।[8] साधारण को ही निगोद और अनंतकाय भी कहते हैं।

आचार्य वट्टकेर कृत शौरसेनी प्राकृत भाषा के प्राचीन ग्रंथ मूलाचार के अनुसार गूढ़सिरा अर्थात् जिनकी शिरा (नसें), संधि (बंधन) तथा गांठ नहीं दिखती, जिसे तोड़ने पर समान टुकड़े हो जाते हैं, दोनों भागों में परस्पर तंतु न लगा रहे तथा जिनका छेदन करने पर भी पुनः वृद्धि (अंकुरित) को प्राप्त हो जाए, उसे साधारण शरीर तथा इन सब लक्षणों के विपरीत को प्रत्येक शरीर कहते हैं।[9] लाटी संहिता के अनुसार भी जिसके तोड़ने में दोनों भाग चिकने और एक-से हो जाएं, वह साधारण वनस्पति है। जब तक उसके टुकड़े इसी प्रकार होते रहते हैं, तब तक उसे साधारण वनस्पति समझना चाहिए। जिसके टुकड़े चिकने और एक-से न हों उन्हें प्रत्येक वनस्पति कहा जाता है।[10]

प्रत्येक वनस्पति के दो भेद :

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती कृत शौरसेनी प्राकृत के 'गोम्मटसार' ग्रंथ में प्रत्येक वनस्पति के दो भेद बतलाए हैं—1. सप्रतिष्ठित, 2. अप्रतिष्ठित। जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कंद अथवा स्कंध है, अथवा जो बीज से ही उत्पन्न होती हैं तथा सम्मूर्च्छन हैं, वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित—दो प्रकार की होती हैं।

जिनका सिरा, संधि, पर्व अप्रकट हो और जिनको भंग करने पर समान भंग हो, दोनों भंगों में परस्पर तंतु न लगा रहे तथा छेदन पर भी जिनकी पुनः वृद्धि हो जाए, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। इससे विपरीत अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती है।[11]

जिन वनस्पतियों के मूल, कंद, त्वचा, प्रवाल (नवीन कोंपल), क्षुद्रशाखा (टहनी), पत्र, फूल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिनका भंग समान हो उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जिस वनस्पति के कंद, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कंध की छाल मोटी हो उसको अनंतजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं। जिस योनीभूत जीव में वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूलादिक प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती है।[12]

लाटी संहिता के अनुसार मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकंद आदि मूल, गंडरीक (एक प्रकार का कड़ुआ जमीकंद) के स्कंध, पत्ते, दूध और पर्व—ये चारों अवयव, आक का दूध, करीर, सरसों आदि के फूल, ईख की गांठ और उसके आगे का भाग, पांच उदंबर फल (बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर फल) तथा कुमारीपिंड (गवारपाठा) की सभी शाखाएं आदि साधारण वनस्पति हैं। वृक्षों पर लगी कोंपलें भी साधारण हैं, पकने पर प्रत्येक हो जाती है। शाकों में चना, मेथी, बथुआ आदि कोई साधारण है, तो कोई प्रत्येक। किसी-किसी वृक्ष की जड़, किसी-किसी के स्कंध, शाखाएं, पत्ते, फूल, पर्व तथा फल आदि साधारण होते हैं।[13]

मूलाचारकार के अनुसार मूलबीज, अग्रबीज, पोर (पर्व) बीज, कंदबीज, स्कंधबीज, बीजरूह आदि तथा सम्मूर्च्छिम (जड़ के अभाव में भी जिनका जन्म संभव है) वनस्पतियां[14] प्रत्येक और अनंतकाय (साधारण शरीर)—दोनों ही प्रकार की होती हैं। सूरण आदि कंद, अदरक आदि मूल, छाली (त्वक्) स्कंध, पत्ता, पल्लव, पुष्प, फल, गुच्छा, गुल्म (करंज, कंथरादि), बेल, तृण तथा पर्वकाय (ईख, बेंत आदि) ये सम्मूर्च्छिम वनस्पतियां भी प्रत्येक और अनंतकाय हैं।[15] बेल, वृक्ष, तृण आदि वनस्पतियां तथा सभी प्रत्येक और साधारण वनस्पतियां हरितकाय होती हैं।[16]

श्वेतांबरसम्मत आगम परंपरा के प्रज्ञापनासूत्र में प्रत्येककाय बादर वनस्पतिकायिक जीव के अंतर्गत बारह भेद बतलाए हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग (पर्व वाले), तृण, वलय (केला आदि जिनकी छाल गोलाकार हो), हरित, ओषधि, जलरूह (जल में पैदा होने वाली वनस्पति) और कुहणा (भूमिस्फोट)।[17] इसी ग्रंथ में इन्हीं बारहों के अनेक-अनेक भेदों का उल्लेख है, जिनका अध्ययन वनस्पतिशास्त्र-विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इस विवेचन के आधार पर जैनशास्त्रों के अनुसार वनस्पति के दस प्रकार फलित हुए—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।

मूलबीज आदि वनस्पतियों के उपर्युक्त भेदों के आधार पर वनस्पतिकायिक जीवों के उत्पन्न होने के निम्नलिखित आठ प्रधान स्थान माने जा सकते हैं।[18]

मूलबीज : जिसके मूल में बीज लगता हो या मूल ही जिनका बीज (उत्पादक भाग) हो, जैसे कंद आदि।

अग्रबीज : जिस वनस्पति के सिरे पर बीज लगता हो अर्थात् आगे का हिस्सा ही जिनका बीज हो, जैसे कोरंटक।

पर्वबीज : गांठ ही जिनका बीज हो, जैसे ईख आदि।

स्कंधबीज : जिसके स्कंध या जोड़ ही बीज हों, जैसे थूहर आदि।

बीजरूह : जिसके मूलबीज में ही बीज रहता है जैसे गेहूं आदि चौबीस प्रकार के अन्न।

सम्मूर्च्छिम : जो वनस्पति अपने-आप पैदा होती है।

तृण : तृण आदि घास रूप।

बेल वनस्पति : चंपा, चमेली, ककड़ी, खरबूजा आदि की लताएं।

वस्तुतः वनस्पति जाति के दो प्रकार हैं—1. बीजोद्भव तथा 2. सम्मूर्च्छिम। बीजोद्भव वनस्पति के अंतर्गत मूलज, अग्रज, पर्वत आदि हैं। दूसरी सम्मूर्च्छिम के अंतर्गत कंदकाय, मूलकाय, त्वक्काय आदि हैं। सम्मूर्च्छिम वनस्पति की उत्पत्ति में पृथ्वी, हवा और जल—ये उपादान कारण होते हैं। प्रायः देखा भी जाता है कि शृंग (सींग) से शर (एक प्रकार का सफेद सरकंडा या घास) तथा गोबर से शालूक उत्पन्न हो जाते हैं। ये बीज के बिना ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कुछ ऐसी वनस्पतियां भी हैं जिनमें पुष्प के बिना ही फल उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें फल वनस्पति कहते हैं। कुछ में पुष्प तो उत्पन्न होते हैं, पर फल उत्पन्न नहीं होते—उन्हें पुष्प वनस्पति कहते हैं तथा कुछ में पत्र ही उत्पन्न होते हैं, पुष्प फलादिक नहीं—उन्हें पत्र वनस्पति कहते हैं।[19]

दशवैकालिकसूत्र में वनस्पति शब्द को वृक्ष, गुच्छ, गुल्म आदि सभी प्रकार की हरियाली का वाचक माना गया है।[20] कुंदकुंदकृत माने जाने वाले 'मूलाचार' आगम ग्रंथ में वनस्पति, वृक्ष, ओषधि, विरूध, गुल्म और वल्ली—इनके विभाजनपूर्वक इस प्रकार अर्थ बताए हैं—जिसमें फली लगती है, उसे वनस्पति कहते हैं। जिसमें पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं, उसे वृक्ष कहते हैं। फलों के पक जाने पर जो नष्ट हो जाते हैं, ऐसी वनस्पति को ओषधि कहते हैं। गुल्म और वल्ली को विरूध कहते हैं। जिसकी शाखाएं छोटी तथा जड़ (मूल) जटाकार हैं, उस झाड़ी को गुल्म कहते हैं तथा वृक्ष पर वलयाकार रूप से चढ़कर बढ़ने वाली वेल या लता को वल्ली कहते हैं।[21] आयुर्वेदिक साहित्य के अंतर्गत 'सुश्रुत-संहिता' ग्रंथ में स्थावर ओषधि में इन्हीं चार भेदों की गणना की है—1. जिनके पुष्प न हों, किंतु फल होते हैं—उन्हें वनस्पति, 2. जिनके पुष्प और फल दोनों आते हैं—उन्हें वृक्ष, 3. जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की हो—उन्हें विरूध तथा 4. जो फलों के पकने तक ही जीवित या विद्यमान रहती हों—उन्हें ओषधि कहते हैं।[22]

बादरकायिक और सूक्ष्मकायिक वनस्पति :

शैवाल (काई), पणक जमीन पर, ईंटों तथा वामी आदि में उत्पन्न (केण्णग या केणग), वर्षाकाल में कूड़ा आदि में उत्पन्न छत्राकार वनस्पति जिसे कुकुरमुत्ता आदि भी कहते हैं, कवक—सींग में उत्पन्न होने वाली छत्ररूप जटाकार वनस्पति और कुहण (बासे आहार काजिक आदि में उत्पन्न पुष्पिका या फफूंद)—ये सब बादर (स्थूल) कायिक वनस्पति हैं तथा जल, पृथ्वी, हवा, अग्नि आदि भी बादरकायिक हैं। सूक्ष्मकाय जीव सर्वत्र जल, आकाश और स्थल में रहते हैं।[23]

पृथ्वी आदि से लेकर वनस्पतिपर्यंत बादर (स्थूल) काय और सूक्ष्मकाय—ये दोनों होते हैं। बादरकाय जीव आठ पृथ्वियों तथा विमानादि के सहारे रहते हैं। साथ ही सूक्ष्मकाय, जो अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर वाले होते हैं, वे जल, आकाश और पृथ्वी—सर्वत्र बिना आश्रय के रहते हैं।[24] अर्थात् वे सूक्ष्म जीव संपूर्ण जगत में निरंतर रहते हैं। जगत का एक भी प्रदेश इनसे रहित नहीं है, किंतु बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हैं।[25]

शेष पृष्ठ 52 पर

अनुभूति

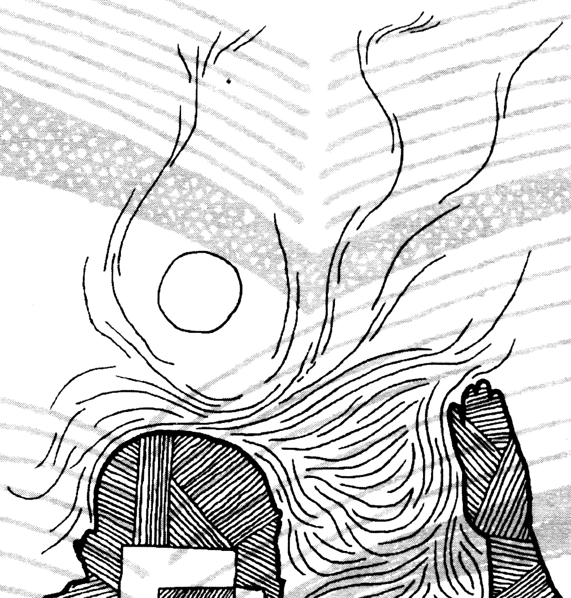

लोक में फैली दुख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंदकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट-पतलून-हैटवाले को धारा-प्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पंडित-वेशधारी सज्जन को अंग्रेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार-सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौंदर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौंदर्य है। आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौंदर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौंदर्य का यह उद्घाटन असौंदर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की वह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इसमें कवि हमारे सामने असौंदर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनंद-काल के विकास में ही योग देते पाए जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलंत रोष है तो उसके और सब ओर करुण दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौंदर्य प्रत्यक्ष किया था।

—**आचार्य रामचंद्र शुक्ल**

समाज और विधि-विधान या अनुशासन दो नहीं हैं। जहां समाज है वहां अनुशासन है, जहां संघ है वहां अनुशासन है। संघ और अनुशासन को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता। समाज और अनुशासन को कभी अलग नहीं देखा जा सकता। तात्पर्य की भाषा में दोनों को पर्यायवाची माना जा सकता है। समाज का अर्थ है—अनुशासन और अनुशासन का अर्थ है—समाज।

समाज और अनुशासन

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

शिष्य गुरु के पास दीक्षित हुआ। पहला ही दिन था। शिष्य चलने लगा। आचार्य ने टोका—'कैसे चल रहे हो? देखकर चलो।' शिष्य सकपकाकर बैठ गया। आचार्य ने फिर टोका—'सीधे बैठो, स्थान का प्रमार्जन करके फिर बैठो। झुककर मत बैठो, टेढ़े मत बैठो।' सोने का समय हुआ। शिष्य लेटने लगा। आचार्य ने कहा—'ठीक से सोओ। ऐसे नहीं सोना है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेटो। वाम-पार्श्व कायोत्सर्ग करो, दक्षिण-पार्श्व कायोत्सर्ग करो, उत्तान कायोत्सर्ग करो या अवम कायोत्सर्ग करो। ऐसे टेढ़े-मेढ़े मत सोओ।'

दूसरा दिन हुआ। शिष्य किसी से बात करने लगा। आचार्य ने कहा—'धीरे बोलो, जोर से मत बोलो, निरवद्य वचन बोलो।' भोजन का समय हुआ। शिष्य खाना खाने लगा। आचार्य ने कहा—'ऐसे मत खाओ। जल्दी-जल्दी खा रहे हो, ठीक से खाओ, चबा-चबाकर खाओ।' प्रत्येक कार्य में आचार्य के हस्तक्षेप से शिष्य का चित्त अशांत हो उठा। उसने सोचा—मैं मुनि बना हूं, मुक्ति के लिए, बंधनों को तोड़ने के लिए, किंतु साधुत्व में भी बंधन हैं, यह तो बड़ा विस्मय है—

मुक्तये साधवो जाता, बन्धनच्छित्तये प्रभो।
बंधनान्यपि साधुत्वे, यदि स्युर्विस्मयो महान्।।

शिष्य का चिंतन आगे बढ़ा। उसने सोचा—आदमी की अपनी भी कोई स्वतंत्रता होती है। मेरी भी स्वतंत्रता है—मैं कैसे चलूं, कैसे बोलूं, कैसे खाऊं, कैसे सोऊं—इसमें दूसरे को क्या लेना-देना है? उससे रहा नहीं गया। वह गुरु के पास पहुंचा। वंदना कर बोला—'गुरुदेव! मैंने दीक्षा मुक्ति के लिए ली है और आप मुझे प्रत्येक कार्य में बांधते चले जा रहे हैं। आप चाहते हैं—मैं न चलूं, न सोऊं, न बोलूं और न खाऊं, मात्र मूर्ति की तरह बन जाऊं। इस प्रकार बनना मेरे लिए संभव नहीं है। क्या ये बंधन नहीं हैं? निषेध का अर्थ क्या है? प्रयोजन क्या है?'

गुरु ने कहा—'वत्स! मैं नहीं कहता तुम मत चलो, तुम मत सोओ, मत खाओ, मत पीओ, बात मत करो। पर जो भी कार्य करो, वह विधिवत् करो, विधान के अनुसार करो। विधि-विधान को मानना बहुत जरूरी है।'

आद्य शंकराचार्य ने लिखा—

यावदस्मिन्नविद्योत्थं, जीवत्वं नापनीयते।
तावद् विधिनिषेधानां शंकरोप्यस्ति किंकरः।।

जब तक इस जीव में अविद्या से उत्पन्न होने वाला जीवत्व समाप्त नहीं होता तब तक विधि और निषेध का शंकर भी किंकर है, सेवक है।

मर्यादा महोत्सव विशेष

समाज और विधि-विधान या अनुशासन दो नहीं हैं। जहां समाज है वहां अनुशासन है, जहां संघ है वहां अनुशासन है। संघ और अनुशासन को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता। समाज और अनुशासन को कभी अलग नहीं देखा जा सकता। तात्पर्य की भाषा में दोनों को पर्यायवाची माना जा सकता है। समाज का अर्थ है—अनुशासन और अनुशासन का अर्थ है—समाज।

विधान के प्रकार

पश्चिमी दार्शनिक संत थामस एक्वायना ने कानून को कई भागों में बांटा है—प्राकृतिक कानून, मानवीय कानून, धार्मिक कानून।

कुछ विधान प्राकृतिक होते हैं, शाश्वत होते हैं। एक परमाणु आज एक गुना काला है, किंतु एक निश्चित समय के बाद उसे बदलना ही पड़ेगा। वह अमुक समय तक ही उस रूप में रह सकता है। उसके बाद उसे सौ गुना काला होना होगा, हजार गुना या अनंत गुना काला होना होगा। यह प्राकृतिक या सार्वभौम नियम है। एक परमाणु आज अमुक आकाश-प्रदेश में है। अमुक समय के बाद उसे यह स्थान छोड़ना ही पड़ेगा। प्राकृतिक नियम यह नहीं हो सकता—जो बन गया सो बन गया।

दंड और अनुशासन

प्रकृति के नियम शाश्वत हैं। वे सब पर लागू होते हैं। समाज के नियम मानवीय नियम हैं। वे बनाए जाते हैं और बदले भी जाते हैं। 'डिवाइन लॉ'—धार्मिक नियम हैं, आध्यात्मिक नियम हैं। एक सामाजिक प्राणी पर दंड का प्रयोग होगा, अनुशासन का प्रयोग होगा तो वह क्रोध में भी आएगा, प्रतिरोध भी करेगा, विरोध भी करेगा और प्रतिशोध की भावना भी पैदा होगी, क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है। एक मुनि, जो आध्यात्मिक जीवन जी रहा है, उसके लिए विधान होता है कि अनुशासन होने पर भी वह क्रोध न करे। सामाजिक क्षेत्र में दंड का विधान है और आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुशासन का मूल्य है। दंड के क्षेत्र में क्रोध करना, प्रतिरोध करना वर्जित नहीं माना जाता, किंतु अनुशासन में ये बातें नहीं चल सकतीं। दंड में छलना चल सकती है, किंतु अनुशासन में छलना नहीं होती।

बहाना साधन है—झूठ को बढ़ावा देने का

थानेदार के पास एक सिपाही की शिकायत आई। शिकायत में कहा गया—सिपाही ने चोर को देखने पर भी पकड़ा नहीं। थानेदार ने सिपाही से पूछा—'जब तुमने चोर को देख लिया तो पकड़ा क्यों नहीं? क्यों नहीं तुम्हें निष्कासित कर दिया जाए?'

सिपाही बोला—'सर! आप ठीक कहते हैं, किंतु मैं क्या करूं? मेरी मुसीबत भी आप सुनिए।'

'तुम्हारी क्या मुसीबत थी?'

'मैंने चोर को देखा, यह बिल्कुल सही बात है। मैं उसे पकड़ने भी गया। चोर घर में घुस गया और घर के बाहर लिखा था—अंदर आना मना है। मैं कैसे भीतर जाता और कैसे चोर को पकड़ता?'

दंड के क्षेत्र में ऐसी छलना चल सकती है, बहाना चल सकता है। दुनिया में शायद बहाने से बड़ा कोई झूठ नहीं होता। झूठ को बढ़ावा देने का सबसे अच्छा साधन है—बहाना। यह झूठ को संरक्षण देने का सबसे बढ़िया कवच है। एक बहाने के साथ झूठ को पनाह दी जा सकती है, संरक्षण दिया जा सकता है, उसे पाला जा सकता है—पर अनुशासन में ऐसा नहीं हो सकता। अनुशासन के क्षेत्र में जो सहता है, वह महान बन जाता है।

प्रश्न अनुशासन का

शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव! अनुशासन का स्रोत क्या है? अनुशासन का स्वरूप और उसका फल क्या है—

किं स्रोतः किं स्वरूपं च, किं फलं चानुशासनम्।।'

आचार्य ने कहा—

'स्वतंत्रता भवेत् स्रोतः, परस्वातंत्र्यरक्षिका।
इच्छारोधः स्वरूपं स्यात् प्रसादः समता फलम्।
सुस्थिरो जायते लोको, विद्यमानेऽनुशासने।।

दूसरों की स्वतंत्रता का संरक्षण करने वाली स्वतंत्रता अनुशासन का स्रोत है। अनुशासन का स्वरूप है—इच्छारोध। उसका फल है प्रसाद और समता। अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति सुस्थिर बन जाता है।'

स्वतंत्रता का अर्थ

दूसरों की स्वतंत्रता का संरक्षण करने वाली स्वतंत्रता अनुशासन का मूल स्रोत है। मनमाने ढंग से काम करने वाला अनुशासन को कभी नहीं निभा सकता। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता चाहता है, किंतु व्यक्ति स्वतंत्र तभी हो सकता है, जब वह दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक नहीं बने। प्रत्येक व्यक्ति सोचे—मैं रोटी खाने में स्वतंत्र हूं, किंतु मैं किसी दूसरे की रोटी में बाधक तो नहीं बन रहा हूं। मैं इस मकान में रहने को स्वतंत्र हूं, किंतु किसी दूसरे के रहने में बाधा तो नहीं बन रहा हूं। प्रत्येक बात में दूसरे की स्वतंत्रता को संरक्षण देने वाली अपनी स्वतंत्रता अनुशासन का आधार बनती है। इस परापेक्षी स्वतंत्रता से अनुशासन का स्रोत फूटता है। अनुशासन परतंत्र बनने के लिए नहीं, किंतु दूसरों को स्वतंत्रता का अधिकार देने के लिए है। दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान ही अनुशासन का उद्गम स्थल है। परतंत्रता में से कभी अनुशासन का स्रोत नहीं फूटता। परतंत्रता में प्रतिक्रिया जन्म लेगी, प्रतिशोध, हिंसा, आतंक और भय जन्म लेगा। स्वतंत्रता का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को मान्यता देना और यही अनुशासन का स्रोत है।

इच्छाओं की काट-छांट जरूरी

अनुशासन का स्वरूप है—इच्छारोध, इच्छा का निरोध करना। व्यक्ति के मन में अनेक इच्छाएं पैदा होती हैं। किसी की कार देखकर इच्छा हो जाती है—कार बहुत बढ़िया है, यह कार मैं ले लूं। किसी की बढ़िया कोठी देखी, इच्छा हो जाती है उस मकान में रहने की। किसी का बढ़िया कपड़ा देखा, उसे पहनने की इच्छा पैदा हो जाती है। एक दिन में न जाने कितनी इच्छाएं पैदा होती हैं। जो इच्छा पैदा हो और उस इच्छा के साथ-साथ आदमी चले, जो मन में आए वही कर ले तो एक दिन में ही पूरे समाज की व्यवस्था गड़बड़ा जाए, चारों ओर लूट-खसोट, हिंसा और आतंक फैल जाए। समाज ने अनुशासन सीखा है, उसके स्वरूप को जाना है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—यह मेरा मकान है, इसी में मुझे रहना है। मैं दूसरे के मकान में नहीं रह सकूंगा। मेरा कपड़ा ही मुझे पहनना है। मेरी रोटी ही मुझे खानी है। जब इस अनुशासन को व्यक्ति जानता है तब समाज की व्यवस्था चलती है। इसका अर्थ है—कोई भी व्यक्ति मनमानी बात नहीं कर सकता। जो इच्छा मन में पैदा होती है, वह उसमें काट-छांट करता है, इच्छा का निरोध करता है।

विवेक-मस्तिष्क का काम

मस्तिष्क का एक हिस्सा, जिसे 'रिजनिंग माइंड' कहा जा सकता है। 'रिजनिंग माइंड'—विवेक मस्तिष्क का काम है—इच्छा की काट-छांट करते रहना। व्यक्ति के मानस में एक दिन में अनेक इच्छाएं पैदा हो जाती हैं पर 'रिजनिंग माइंड' उन्हें बाहर नहीं आने देता। वह पहले ही उनकी काट-छांट कर देता है। वह कहता है—तुम्हारे लिए यह सोचना ठीक नहीं है, यह इच्छा करना ठीक नहीं है। इस प्रकार काट-छांट होती रहती है। यह इच्छा की काट-छांट करना ही अनुशासन का स्वरूप है। जो अनुशासित व्यक्ति है, वह मनमानी नहीं करेगा, इच्छा की काट-छांट करेगा। वह सोचेगा—यह काम मुझे नहीं करना चाहिए। यह मेरा कर्तव्य नहीं है। यह कार्य मेरे लिए अच्छा नहीं है। मैं यह काम करूंगा तो गुरु क्या समझेंगे? दूसरे लोग क्या समझेंगे? व्यक्ति के भीतर पहले यह अनुशासन चलता है और ऐसा करते-करते एक दिन आत्मानुशासन जाग जाता है, उसका चिंतन बदल जाता है। वह यह नहीं सोचता—दूसरे क्या समझेंगे? गुरु क्या कहेंगे? वह कहेगा—मेरे लिए यह उचित नहीं है। मैं इस कार्य को नहीं करूंगा। वह आरोपण की भूमिका से हटकर सहज उद्भूत अवस्था में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

सफलता का सूत्र : प्रसन्नता

अनुशासन के दो फल हैं—प्रसाद और समता। अनुशासित व्यक्ति पर आचार्य प्रसन्न हो जाते हैं। वे प्रसन्न होकर उसे प्रचुर ज्ञान देते हैं, उसके आध्यात्मिक पथ को निर्बाध बनाने में योगभूत बनते हैं। अनुशासनहीन व्यक्ति को यह सब उपलब्ध नहीं हो सकता। वह अनुशासित शिष्य पर गुरु की प्रसन्नता को देखकर क्षुब्ध हो जाता है, ईर्ष्या से भर जाता है। वह सोचता है—आचार्य उस पर प्रसन्न हैं, उसे अधिक लाभ देते हैं, अधिक ज्ञान देते हैं, केवल उसके ही विकास पर ध्यान दे रहे हैं। मेरी ओर उनका ध्यान ही नहीं है। आचार्य सब-कुछ इसी को बता रहे हैं, मुझे कुछ भी नहीं बता रहे हैं। वे इसी को महत्त्व दे रहे हैं, इसी का मूल्यांकन कर रहे हैं। मेरा कोई अंकन नहीं करते। वह यह नहीं सोचता—मैं कितना अनुशासित हूं, कितना विनीत हूं? गुरु का ही दोष सामने आता है—गुरु पक्षपात करते हैं, न्याय नहीं करते हैं। वह आचार्य पर ऐसा दोषारोपण करता है, किंतु स्वयं अनुशासित या विनीत बनने का प्रयत्न नहीं करता, गुरु का प्रसाद पाने की आराधना नहीं करता।

गुरु की प्रसन्नता शिष्य के विकास में बहुत बड़ा निमित्त बनती है। प्रसन्नता जीवन की सार्थकता है। दुनिया में बहुत मूल्यवान वस्तुएं हैं, किंतु प्रसन्नता से बढ़कर कोई वस्तु मूल्यवान नहीं है। हीरा, पन्ना, माणक आदि का मूल्य उतना नहीं है जितना मन और भाव की प्रसन्नता का है। जो व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है, उसके लिए ये सारी चीजें गौण हो जाती हैं, अकिंचित्कर बन जाती हैं। जीवन की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है प्रसन्नता। जिसने प्रसन्नता पा ली, प्रसन्न रहना सीख लिया, वह अपने जीवन में धन्य हो गया।

जो व्यक्ति परिस्थिति के साथ, वातावरण के साथ, नियति के साथ समझौता करना सीख लेता है, उसे कोई अप्रसन्न नहीं बना सकता। सबसे बड़ा आत्मानुशासन है कि जो भी स्थिति आए, उसके साथ समझौता करो। यदि व्यक्ति परिस्थिति को धिक्कारेगा, उसका तिरस्कार करेगा, उसको कोसेगा, तो दुख बढ़ता चला जाएगा। अगर पांच प्रतिशत दुख है तो वह पचास प्रतिशत हो जाएगा। अगर दस प्रतिशत है तो वह सौ प्रतिशत बन जाएगा। परिस्थिति के

साथ समझौता करने वाले को कोई दुखी नहीं बना सकता, उसकी प्रसन्नता को कोई बांट नहीं सकता।

शेखसादी और भिखारी

एक बड़े सूफी संत हुए हैं शेखसादी। उन्होंने एक भिखारी को देखा। भिखारी के पैर टूटे हुए थे। वह पंगु था, किंतु अत्यंत प्रसन्न। शेखसादी विस्मय में पड़ गए। वे अपने-आप को नहीं रोक सके। भिखारी के पास गए। उन्होंने पूछा—'अरे भाई! तुम भीख मांग रहे हो और पैर तुम्हारे टूटे हुए हैं, फिर भी तुम्हारे चेहरे पर प्रसन्नता टपक रही है। तुम्हारी प्रसन्नता को देखकर मुझे भी ईर्ष्या होती है। मैं भी इतना प्रसन्न नहीं हूं। क्या कारण है इसका?' भिखारी बोला—'महाशय! मैं भिखारी हूं। मेरे पैर नहीं हैं। भीख मांगकर जीवन चलाता हूं। फिर भी मैं खुदा का धन्यवाद करता हूं। उसने मुझे आंखें दे रखी हैं, हाथ दे रखे हैं। मैं मजे से रोटी खाता हूं, सबको देखता हूं, भीख मांग लेता हूं। केवल पैर नहीं हैं तो क्या हुआ? जो है, उसको छोड़कर, जो नहीं है उसके लिए मैं क्यों रोऊं।' शेखसादी यह सुनकर स्तब्ध रह गए।

अभाव से जुड़ी है अप्रसन्नता

जो अभाव को देखता है वह सदा दुखी और अप्रसन्न रहता है। जो-कुछ प्राप्त है, उसकी ओर वह कभी नहीं देखता। उसका सारा ध्यान अभाव में ही अटक जाता है। उसका चिंतन होता है—मेरा यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, मुझे यह नहीं मिला, वह नहीं मिला। जो व्यक्ति अभावों के बीच रहता हुआ भी भाव को देखता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। आचार्य भिक्षु अभावों के बीच सदा प्रसन्न रहे। उन्हें कोई अप्रसन्न नहीं बना सका, दुखी नहीं बना सका। वे अभाव में भी भाव को ढूंढ़ते रहे। यदि व्यक्ति अभाव की दिशा में जाएगा तो उसे अप्रसन्नता मिलेगी। कोई भी जीवन ऐसा नहीं है, जिसमें अभाव न हो और कोई भी जीवन ऐसा नहीं है, जिसमें भाव बिल्कुल न हो। इनमें मात्रा-भेद हो सकता है। किसी के जीवन में अभाव ज्यादा हो सकता है, किसी के जीवन में भाव ज्यादा हो सकता है। किसी के जीवन में असुविधा ज्यादा है, किसी के जीवन में सुविधा ज्यादा है, पर असुविधा और सुविधा, अभाव और भाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में हैं। सुख एवं दुख का स्रोत व्यक्ति की दृष्टि में निहित है। अगर वह अभाव को देखता चला जाए तो जीवन में दुख-ही-दुख उपलब्ध होगा और अगर वह भाव को देखता चला जाए तो जीवन में सुख-ही-सुख होगा, दुख को अवकाश ही नहीं मिलेगा।

आनंद है भाव-दर्शन में

प्रश्न पूछा गया—यह जगत सुखमय है या दुखमय? उत्तर दिया गया—**अज्ञस्य दुखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्**—जो अज्ञानी आदमी है, अभाव को देखने वाला है—उसके लिए यह जगत दुखमय है। जो ज्ञानी है, जिसने अपने-आप को जाना है, जो भाव को देखने वाला है—उसके लिए सारा जगत आनंदमय है। भाव को देखने वाला साधु आनंद में डूबा रहता है। उसे अभाव में भी दुख का बोध नहीं होता।

खर्च का भाग बड़ा

मन की एक वृत्ति होती है—कृपणता। जो व्यक्ति कृपण होता है, कंजूस होता है, ज्यादा हिसाब लगाता है—उसके पास भी शायद धन आने से थोड़ा सकुचाता है। यह देखा गया है—जो दानशील होता है, वह आर्थिक दृष्टि से भी लाभ में रहता है। जो कंजूस होता है, वह मन में समझता है कि मैं बहुत बचाता हूं पर वह बहुत लाभ में नहीं रहता। इसीलिए यह कहावत बन गई—'खर्च का बड़ा भाग।' दान के साथ कुछ जुड़ा हुआ है। कृपणता से लक्ष्मी भी घबराती है।

उदारता बहुत बड़ा गुण है। जो भाव पक्ष को देखता है—वह उदार होता है। जो अभाव पक्ष को देखता है—वह कृपण होता है। जो भाव और अभाव—दोनों में प्रसन्न रहना सीख लेता है, सम रहना सीख लेता है—वह अनुशासन में रहना सीख लेता है। जो अनुशासन में रहना सीख जाता है, वह समता और प्रसन्नता को पा लेता है।

अनुशासन की बाधा : अभाव का दर्शन

सामाजिक एवं संघीय जीवन में भाव पक्ष को देखने वाला कभी विचलित नहीं होता। जो अभाव को देखता है, वह अनुशासन में स्थिर नहीं हो सकता। जो छोटी-छोटी बातों से अनास्थाशील बन जाता है, अनुशासनहीन बन जाता है—उसकी प्रसन्नता और समता विनष्ट हो जाती हैं। अभाव का दर्शन अनुशासन में बड़ी बाधा है। इस बाधा को जो पार कर लेता है, वह अनुशासन में जीना सीख लेता है। भाव पक्ष को देखने वाले का मन विचलित नहीं होता, वह संतुलित बना रहता है और यह संतुलन ही जीवन को स्थिरता प्रदान करता है, समता एवं प्रसन्नता से भर देता है। ❖

मर्यादा की आवश्यकता हर युग में है। वर्तमान युग में यह सर्वाधिक आवश्यक है। जिस युग में मर्यादा को तोड़ना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता हो, उसमें मनुष्य मर्यादा के संस्कार कहां से पाए? मर्यादाएं सामाजिक हों या धार्मिक—वे जीवन को संवारती हैं और व्यवस्थाओं को बनाए रखती हैं। मर्यादाहीनता की स्थिति मन में विक्षोभ जगाती है और व्यक्ति को अपराधों की ओर अग्रसर करती है।

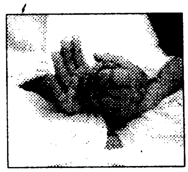

निखार—आत्मानुशासन से

आचार्यश्री तुलसी

किसी भी देश की संस्कृति से परिचित होने के लिए वहां की सांस्कृतिक गतिविधियों का अध्ययन एक माध्यम है। भारतीय संस्कृति में पर्व, त्योहार, उत्सव आदि वैसे ही जुड़े हुए हैं, जैसे सोने-चांदी आदि धातुओं में रत्न जड़े होते हैं। इनका संबंध संस्कृति के साथ है। संस्कृति जीवनशैली को प्रभावित करती है। हर पर्व और उत्सव की कुछ अपनी मर्यादा भी होती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर मर्यादाओं का निर्धारण किया जाता है। जहां-जहां मर्यादाएं टूटती हैं, पर्वों की गरिमा भी खंडित होती है। मर्यादा के कारण पर्व और उत्सव की गरिमा सुरक्षित रहती है। मर्यादा एक लक्ष्मण-रेखा है। इसका उल्लंघन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आपदाओं को सीधा आमंत्रण देता है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति में ही नहीं, हर क्षेत्र में मर्यादा की महत्ता स्वीकार की गई है।

भगवान ऋषभ को इस युग का आदिकर्ता माना जाता है। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मर्यादाओं का निर्धारण किया। उनके बाद भी जैसी अपेक्षा सामने आई, मर्यादाएं बनीं। देश के ऋषि-महर्षि और प्रबुद्धजन इस क्षेत्र में अपना योगदान करते रहे हैं। मर्यादाओं का निर्माण करने वाले प्रज्ञासंपन्न हों, दूरदर्शिता-संपन्न हों तो उनके द्वारा निर्मित मर्यादाएं भी शाश्वत बन जाती हैं।

मर्यादा-महोत्सव पर विशेष

मर्यादाओं का उत्सव मनाने की घटना भारत ही नहीं, विश्व की विरल घटना है। तेरापंथ धर्मसंघ का 'मर्यादा-महोत्सव' जिन लोगों ने देखा है—वे आचार्य भिक्षु एवं जयाचार्य के प्रति अनायास ही प्रणत हो जाते हैं। तेरापंथ की मर्यादाओं के नियामक के रूप में इनका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है।

मर्यादा महोत्सव के केंद्रबिंदु

नदी से नहरें निकाली जाती हैं। वे सततप्रवाही होती हैं। बहते-बहते और उतार-चढ़ाव में उनकी गति मंद भी हो सकती है। गति की मंदता को वेग देने के लिए 'लिफ्ट नहरें' बनाई जाती हैं, पर्व या महोत्सव भी सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह को अपेक्षित गति देने वाले होते हैं। मूल तत्त्व है—संघीय और लोकजीवन में मर्यादा, अनुशासन, विनय आदि जीवन-मूल्यों का अवतरण। मूल ही न हो तो उसे सजाने-संवारने और गति देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

तेरापंथ के मर्यादा-महोत्सव के मूल केंद्रबिंदु हैं—आचार्य भिक्षु। उन्होंने मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं को अपने-आप पर सबसे पहले लागू किया। फिर अपने निकटवर्ती साधुओं पर लागू किया, उसके बाद पूरे संघ पर लागू किया। उन्होंने संघ के साधुओं पर मर्यादाओं को थोपा नहीं। साधुओं के साथ चर्चा की और मर्यादाओं की आवश्यकता का उनको अनुभव कराया। उनके मुंह से सहमति के स्वर निकले। उन्होंने माना कि साधु-जीवन में आचार की निर्मलता एवं सुदृढ़ व्यवस्था के लिए मर्यादाओं का होना आवश्यक है। आचार्य भिक्षु नवोदित तेरापंथ धर्मसंघ के संस्थापक थे, सर्वेसर्वा थे, किंतु उन्होंने कभी तानाशाही की नीति काम में नहीं ली। सबको स्वतंत्र चिंतन का अधिकार दिया। एक-एक साधु से 'मर्यादा-लेख-पत्र' पर हस्ताक्षर करवाए। विचारपूर्वक सबकी मौखिक सहमति और लिखित स्वीकृति लेकर ही उन्होंने संघ में मर्यादाओं को प्रभावी किया।

शाश्वत संविधान का निर्माण

आचार्य भिक्षु विधिवेत्ता नहीं थे। उन्होंने किसी 'लॉ कालेज' में शिक्षा-दीक्षा नहीं पाई थी। उनके पास कोई 'डिग्री' नहीं थी। फिर भी उन्होंने जो संविधान बनाया, वह लोह की लकीर बन गया। दिन बीते, वर्ष बीते, युग बीते—तेरापंथ की मर्यादा (संविधान) की एक-एक धारा पुष्ट होती गई, स्थिर होती गई। उसी के आधार पर तेरापंथ आज अप्रतिहत गति से आगे बढ़ रहा है। 'मर्यादा-महोत्सव' और कुछ नहीं—उस गति को उत्तरोत्तर गतिमान करने का एक विशिष्ट उपक्रम है।

किसी भी पर्व या उत्सव का महत्त्व एक दिन में नहीं बढ़ता। अच्छी परंपरा को जीवंत रखने और स्थायित्व देने के लिए अनेक युगों की साधना आवश्यक है। परमार्थ की प्रेरणा, परमार्थ का उद्देश्य और परमार्थ के लिए समर्पित महान संत भीखणजी ने मर्यादा-महोत्सव की ऐसी मजबूत नींव रखी कि आज संघ के स्थायित्व और दीर्घजीवन के बारे में संदेह का कोई अंकुर कभी नहीं फूट सकता।

प्रकृति रहती है मर्यादा में

जीवन के लिए मर्यादा आवश्यक है। मनुष्य के लिए ही नहीं, प्रकृति के लिए भी मर्यादा का मूल्य है। प्रकृति यदि अपनी मर्यादा तोड़ दे तो संसार में विप्लव की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जब-कभी प्रकृति कुपित होती है, सीमा का अतिक्रमण करती है, तो प्रलयकाल-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। सामान्यतः प्रकृति अपनी स्थिति ही में रहती है, पर पर्यावरण का असंतुलन उसे विकराल भी बना देता है। यही कारण है, आज के वैज्ञानिक 'इकोलॉजी' पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। उसके संबंध में जनता को खतरों से सावधान करते हैं। प्रकृति का अतिरिक्त दोहन न हो, उसे अपने रूप में रहने दिया जाए तो वह अपनी सीमाओं को तोड़कर उत्पात मचाने पर आमादा नहीं होती। मर्यादा-महोत्सव के एक गीत में इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है :

सूरज चांद सितारों ने कब निज मर्यादा छोड़ी?
और समंदर धरती अंबर ने कब सीमा तोड़ी?
मर्यादा से अन्वित ज्ञान, तपस्या और विनय हो।
गण मर्यादामय हो।।

जब सूरज, चांद, सितारे, समुद्र, धरती और आकाश—सभी अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं, ऐसी स्थिति में मनुष्य मर्यादाभंजक क्यों बने? उसका सामान्य व्यवहार ही नहीं, ज्ञान, तपस्या और विनय भी मर्यादा से युक्त हो—यह अपेक्षित है।

मर्यादाहीनता के कारण

मर्यादा की आवश्यकता हर युग में है। वर्तमान युग में यह सर्वाधिक आवश्यक है। जिस युग में मर्यादा को तोड़ना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता हो, उसमें मनुष्य मर्यादा के संस्कार कहां से पाए? मर्यादाएं सामाजिक हों या धार्मिक—वे जीवन को संवारती हैं और व्यवस्थाओं को बनाए रखती हैं। मर्यादाहीनता की स्थिति मन में विक्षोभ जगाती है और व्यक्ति को अपराधों की ओर अग्रसर करती है।

व्यक्ति को मर्यादाहीन बनाने में उसकी अपनी मानसिकता भी निमित्त बनती है, वातावरण का प्रभाव भी होता है, जैसे—घंटों-घंटों तक दूरदर्शन के माध्यम से जो परोसा जाता है, उसमें अधिकांश लोग, उनमें भी विशेष रूप से युवा पीढ़ी, उन्हीं दृश्यों को देखना पसंद करते हैं, जो उन्हें अपनी संस्कृति और नीति—दोनों से भटकाने वाले होते हैं।

दूरदर्शन, सिनेमा और समाचार-पत्र—ये मनुष्य की जीवनशैली के अभिन्न अंग बन गए हैं। इनके बीच में छोटे-बड़े उपदेश अकिंचित्कर होकर रह जाएंगे। मनुष्य उपदेश सुनना पसंद नहीं करेगा। यदि वह सुन भी लेगा तो उसका आचरण करने में कोई रुचि नहीं रहेगी। जो लोग मर्यादा, अनुशासन या चरित्र में आस्थाहीन हैं, वे निरुपाय होकर देखते रहेंगे, अपने बच्चों को भी बोधपाठ नहीं दे सकेंगे। क्या कोई ऐसा उपाय खोजा जा सकता है कि हम अपनी पीढ़ी को इससे मुक्त कर सकें?

आचार्य भिक्षु जैसी अंतर्दृष्टि मिले

तेरापंथ धर्मसंघ मर्यादित और अनुशासित धर्मसंघ है। इसके सदस्यों को आत्मानुशासन का मंत्र सिखाया जाता है। वे इस सचाई को समझते हैं कि आत्मा को संयम और तप से अनुशासित रखा जा सकता है और ऐसा ही रखना श्रेयस्कर है। आत्मानुशासित व्यक्ति सुशास्य हो जाते हैं। उनके लिए मर्यादाएं दिशानिर्देशक तत्त्व का काम करती हैं। तेरापंथ संघ इसका प्रमाण है कि आत्मानुशासन और मर्यादा-निष्ठा के कारण इस धर्मसंघ में उत्तरोत्तर निखार आ रहा है। इसी कारण हम निश्चिंत होकर अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान जैसे व्यापक कार्यक्रमों का संचालन कर रहे हैं। इसी कारण हम अहिंसा के प्रशिक्षण और शिक्षा के क्षेत्र में नए प्रयोग की प्रकल्पना कर रहे हैं।

हमारी यह आकांक्षा है कि सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक—किसी भी स्तर पर नेतृत्व देने वाले व्यक्तियों को आचार्य भिक्षु जैसी अंतर्दृष्टि प्राप्त हो। वे इस अलौकिक मर्यादा-महोत्सव को देखें, इसकी बुनियाद को देखें और व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में अनुशासन एवं मर्यादा के प्रयोग करें। कोई भी व्यक्ति तेरापंथ धर्मसंघ को पहली बार निकटता से देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि विशृंखलता के युग में एक नेतृत्व की बात कैसे चल रही है? जो चल रही है, वह सबके सामने है। 'मर्यादा-महोत्सव' जैसे महापर्व उसे गति देते रहते हैं और गति में निरंतर त्वरा आती जाती है। हम युग-युग तक ऐसे महोत्सव मनाते रहें और विश्व पर मंडराने वाले संकट से अपनी एवं मानव-जाति की सुरक्षा करते रहें।

❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अध्यात्म का यह कल्पतरु अपने संयम की संजीवनी, चैतन्य के प्रकाश और आध्यात्मिक ऊर्जा से जन-जन के कल्याण के लिए चरैवेति-चरैवेति विचरण कर रहा है। इस मानव-मूर्ति सदृश कल्पतरु की विशिष्टताएं दुर्लभ हैं। इस कल्पतरु की छाया में जो व्यक्ति आ गया वह बाहर-भीतर से शीतल हो जाता है। जिस-किसी ने भी इस महामूर्ति को अपनी आंखों से एक बार निहार लिया और सौभाग्य से स्पर्श कर लिया, तो वह सदा-सदा के लिए कृतार्थता का अनुभव करने लगता है।

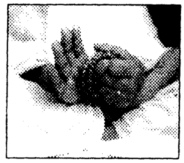

एक आध्यात्मिक कल्पतरु

— मुनि जयंतकुमार

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दीक्षा और पदाभिरोहण पर विशेष

प्राचीन ग्रंथों में ऋषि-महर्षियों द्वारा कल्पवृक्षों की महिमा का मंडन बखूबी मिलता है। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ के युग में भी कल्पवृक्षों की बड़ी चर्चाएं रही हैं। वह युग यौगलिक युग था। उस समय न कोई परिवार था और न कोई समाज। एक युगल उत्पन्न होता और वही आगे जाकर दांपत्यसूत्र में बंध जाता। उस समय असि, मसि और कृषि का प्रचलन नहीं हुआ था। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं कल्पवृक्षों के द्वारा ही परिपूर्ण होती थीं।

हमने कल्पवृक्ष के विषय में पढ़ा है या मात्र सुना-ही-सुना है, पर आंखों से कभी उसे नहीं देखा। अनेक प्रश्न मन में सहज ही उभरते हैं कि क्या कल्पवृक्ष देववृक्ष हैं अथवा कोई चामत्कारिक वृक्ष? क्या उनके पास देने को वह सब-कुछ है, जो मांगा जाता है? क्या कल्पवृक्ष मनुष्यकृत भी हो सकते हैं? यदि कल्पवृक्ष में वस्तुतः ऐसी क्षमता है तो कौन व्यक्ति उनको अपने आंगन में देखना नहीं चाहेगा? किसके मन में उसके प्रति आकर्षण या कुतूहल का भाव नहीं जागेगा?

पुनः एक चिंतन मन में उभरता है कि ऐसे वृक्ष हों तो मनुष्य को रोजी-रोटी कमाने की जरूरत ही क्या रहेगी? जो चाहा, वह पूरा हो गया; जो मांगा, वह मिल गया और अतीत में जैसा था, वर्तमान में भी यदि वैसा ही हो जाए तो एक गरीब आदमी को विवश होकर गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन ही क्यों करना पड़े? उसे दोनों समय आसानी से भरपेट भोजन मिल जाए और आज की अनेक समस्याओं का निराकरण उन कल्पवृक्षों के द्वारा सहज ही हो जाए।

कल्पवृक्ष को लेकर प्राचीन साहित्य में जो जानकारियां उपलब्ध हैं और जो पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं, वे परोक्षतः हमें प्रभावित करती हैं और हम सोचते हैं कि क्या आधुनिक काल के इस दौर में भी हम 'कल्पवृक्ष' की कोई कल्पना कर सकते हैं? एक प्रतीक के रूप में तो 'कल्पवृक्ष' के बारे में हम सोचते हैं, पर आज के युग में वास्तविक रूप में भी क्या इसके दर्शन हो सकते हैं? प्राचीन काल में जो अपेक्षाएं कल्पवृक्ष से मनुष्य की रही हैं, यदि उस कसौटी को आधार बनाकर प्रकारांतर से विचार किया जाए तो कल्पवृक्ष सदृश एक मानव-मूर्ति पर हमारी दृष्टि अपलक ठहर जाती है। यह मानव-मूर्ति है—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, जो जन-जन की समस्याओं के समाहार में आज सन्नद्ध हैं। अंतर केवल यह है कि पौराणिक कथाओं में कल्पवृक्ष से जहां भौतिक समस्याओं के निवारण के दृष्टांत ही मिलते हैं, वहां मानव-मूर्ति सदृश आधुनिक युग का यह कल्पवृक्ष मनुष्य की आंतरिक समस्याओं का निवारण करता है, भौतिक-आध्यात्मिक शांति का मार्ग प्रशस्त करता है।

अध्यात्म का यह कल्पतरु अपने संयम की संजीवनी, चैतन्य के प्रकाश और आध्यात्मिक ऊर्जा से जन-जन के कल्याण के लिए चरैवेति-चरैवेति विचरण कर रहा है। इस मानव-मूर्ति सदृश कल्पतरु की विशिष्टताएं दुर्लभ हैं। इस कल्पतरु की छाया में जो व्यक्ति आ गया वह बाहर-भीतर से शीतल हो जाता है। जिस-किसी ने भी इस महामूर्ति को अपनी आंखों से एक बार निहार लिया और सौभाग्य से

स्पर्श कर लिया, तो वह सदा-सदा के लिए कृतार्थता का अनुभव करने लगता है।

आज लोगों में तनाव की समस्या है, घुटन और बेचैनी है, सर्वत्र हिंसा और अशांति का वातावरण है। ऐसे वातावरण में यह मानव-कल्पतरु अपनी अहिंसा-यात्रा से जन-जन को शांति का संदेश दे रहा है और हिंसा के कारणों का निवारण करने में लगा है।

जैन आगमों में अनेक प्रकार के कल्पतरुओं का वर्णन मिलता है। तुलना की दृष्टि से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को सामने रखें तो हमें विविध दृष्टिकोणों से उनमें गहरा सामंजस्य नजर आएगा। आगमों में दस प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख है—

मदांगक

ऐसा रस प्रदान करते थे, जिनको पीकर मनुष्य तृप्त हो जाता था। यह तृप्ति पूरे दिन बनी रहती थी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी ऐसे कल्पवृक्ष सदृश हैं जो प्रेक्षाध्यान के द्वारा आनंदमय, सुख-शांतिमय जीवन के लिए तथा तनाव-मुक्ति के लिए ध्यान और कायोत्सर्ग के मधुर रस को जन-जन में बांट रहे हैं। ध्यानरस की खुमारी इतनी अधिक तीव्र होती है, जिसके सामने अन्य रस फीके लगने लगते हैं। ऐसे रस को पीकर हर व्यक्ति अपने में नई ताजगी, स्फूर्ति और तृप्ति का अनुभव कर सकता है।

भृंग

कुछ कल्पवृक्ष भाजनाकार पत्तों वाले होते हैं। उनका उपयोग बर्तनों के रूप में किया जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मानवमात्र को पात्र का आकार देकर उसको सद्गुणों से पूरित कर रहे हैं।

त्रुटितांग

ये कल्पवृक्ष वाद्यध्वनि उत्पन्न करने वाले होते हैं। वाद्यध्वनि मनोरंजन का एक सशक्त साधन है। जब व्यक्ति वाद्यों की मधुर-ध्वनि का श्रवण करता है तो विषाद-भरा मन भी प्रसन्नता और आनंद से सराबोर हो जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भीतरी नाद में विश्वास रखते हैं। वे कर्णश्रवण की बात को गौण कर अंतर्नाद की प्रेरणा देते हैं। उस नाद को सुनने की प्रक्रिया बताते हैं। जब भीतर का नाद निनादित हो जाता है तो व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने मन की प्रसत्ति को नहीं खो सकता और वह शाश्वत आनंद का अनुभव करता है।

दीपांग

ये कल्पवृक्ष प्रकाश देने वाले हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जन-जन के अंतःकरण को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर रहे हैं। जब भीतर का प्रकाश उजागर हो जाता है तो अज्ञान का अंधकार अपने-आप पलायित हो जाता है। चर्मचक्षुओं का प्रकाश केवल बाह्य जगत को प्रकाशित करता है, किंतु अंतर का प्रकाश तीसरी आंख को उद्घाटित करता है। उसे पाकर व्यक्ति स्वयं आलोकित हो जाता है।

ज्योति अंग

ये कल्पवृक्ष ऐसे हैं, जो अग्नि की भांति ऊष्मा देने वाले हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी प्राण-ऊर्जा के संवाहक हैं। उनके रोम-रोम से प्राण-ऊर्जा संचरित होती रहती है। जो व्यक्ति उनके आभावलय में आ जाता है, वह स्वयं ऊर्जावान और शक्ति-संपन्न होने का अनुभव करने लगता है।

चित्रांग

कुछ कल्पवृक्ष मालाकार पुष्पों को देने वाले होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उस गण-उपवन के मालाकार हैं, जिसमें वे प्रत्येक पुष्प को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य करते हैं। उनका कार्य है—मानवीय एकता में सभी को सूत्रबद्ध करना।

चित्ररस

कुछ कल्पवृक्ष विविध प्रकार के मनोज्ञ रस देने वाले होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपनी प्रवचन शैली से नाना प्रकार के मनोज्ञ रसों का आस्वादन कराते हैं। उनके प्रवचनों में मधुरता की पुट तो होती ही है, वहां लोगों की समस्याओं का समाधान भी होता है। कभी लघु कहानियों से नीरस विषय को सरस बना देते हैं तो कभी रोचक मुहावरों के माध्यम से लोगों को हंसा देते हैं। गंभीर विषय का सहज-सरल प्रतिपादन कर वे लोगों को काफी-कुछ सोचने के लिए मजबूर भी कर देते हैं। उनकी व्याख्यान शैली के विविध रूप हैं। जिस प्रकार का श्रोता-वर्ग होता है, उसे उसी प्रकार का व्यंजन परोस देते हैं, जिसका रसास्वादन कर लोग तृप्त हो जाते हैं।

मणि अंग

कुछ कल्पवृक्ष आभूषणाकार अवयव वाले होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी रत्नयत्री के आभूषण से सुसज्जित हैं।

वे तप, शील, संयम आदि का मार्ग बताकर दूसरों को भी भूषित कर रहे हैं।

गेहाकार

कुछ कल्पवृक्ष घर के आकार वाले होते हैं। व्यक्ति को सर्दी-गर्मी, धूप-आतप और वर्षा आदि से अपनी सुरक्षा करने के लिए घर की आवश्यकता होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व्यक्ति-व्यक्ति को अपने ही भीतर एक अंतःघर बनाने की बात कहते हैं। उस घर के निर्मित होने पर न कोई भूकंप उसे ढहा सकता है और न कोई सर्दी-गर्मी और वर्षा आदि के सताने का भय रहता है। वह घर शाश्वत होता है, जिसमें व्यक्ति हमेशा सुखी रहता है।

अनग्न

कुछ कल्पवृक्ष नग्नत्व को ढांकने के उपयोग में आते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ऐसे कल्पवृक्ष सदृश हैं जो लोगों की नग्नता को लज्जा, शील आदि गुणों से आच्छादित करने का प्रयत्न करते हैं। हर व्यक्ति अपने-आप में नग्न है। वस्त्रादि तो बाह्य नग्नता को ढक सकते हैं, किंतु आंतरिक नग्नता को सद्‌गुणों से ही ढका जा सकता है। व्यक्ति में कोई-न-कोई दुर्बलता होती है। उसमें अनेक अवगुण होते हैं। आंतरिक नग्नता को आच्छादित करने के लिए सद्‌गुणों के विकास की आवश्यकता होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी वैसा ही प्रयत्न कर रहे हैं।

ऐसे महाकल्पतरु के सामने अन्यान्य कल्पतरु क्या बौने नहीं नजर आते? इस मानव सदृश महाकल्पतरु में जितनी ऊंचाई है उतनी ही गहराई है। उनका जीवन मानव-कल्याण के लिए सदैव समर्पित है। काश! प्रत्येक व्यक्ति ऐसे कल्पतरु की शीतल छाया में आनंदपूर्वक जीवन-यापन करे और अपनी समस्याओं के समाधान में उनका जी-भर उपयोग करे। ऐसे महाकल्पतरु को श्रद्धासिक्त नमन, बद्धांजलिपूर्वक उनकी परोपकारिता का अभिनंदन।

❖

हर संस्कृति-समूह, समुदाय और राष्ट्र की अपनी अलग छवि होती है। इसके दो मुख्य पक्ष होते हैं—एक वह जिसे इकाई स्वयं अपने बारे में विकसित करती है और दूसरी वह जो उसे इतर संस्कृतियां देती हैं। पहली को हम 'आत्मछवि' या 'सेल्फ इमेज' कहते हैं, दूसरी को 'प्रदत्त छवि' या 'गिव्हन इमेज'। दोनों एक सीमा तक रूढ़ मतों पर आश्रित होती हैं और दोनों कुछ विशिष्ट संदर्भों में एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि आत्मछवि के भी दो पक्ष होते हैं—हाथी के दांतों की तरह जो दिखाने के और होते हैं, खाने के और। आत्मछवि का एक रूप बाहरी दुनिया को दिखाने के लिए होता है जो अधिक सकारात्मक होता है। दूसरा, इकाई तक ही सीमित होता है। इसमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तत्त्वों का समावेश होता है। यदि अपने गुण कुछ बढ़ा-चढ़ाकर देखे जाते हैं तो दोषों और कमियों का एहसास भी होता है। दोनों प्रकार की छवियों—आत्मछवि और प्रदत्त छवि और प्रगट और अंतर्निहित छवियों के अंतर को समझना जरूरी है, दोनों के प्रकार्य भी भिन्न होते हैं। ये छवियां स्थिर और दृढ़ नहीं होतीं, बदलते संदर्भ, ऐतिहासिक अनुभव और विशिष्ट उपलब्धियों द्वारा उनमें गुणात्मक परिवर्तन होते हैं।

आत्मछवि या प्रदत्त छवि का एकदम सही होना जरूरी नहीं है। वे पूरी तरह पूर्वाग्रहमुक्त भी नहीं हो सकतीं। उनमें जाने-अनजाने जातीय स्मृतियों के आग्रह और दुराग्रह आ ही जाते हैं। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि इन रूढ़ मतों का कोई आधार ही नहीं होता। जातीय स्मृतियां ऐतिहासिक तथ्यों को एकदम भुला नहीं सकतीं, ये ऐतिहासिक तथ्य इन छवियों को आकार, निखार और विस्तार देते हैं। ये छवियां सांस्कृतिक इकाइयों के व्यक्तित्व को भी प्रभावित करती हैं। आत्मछवि एक तरह की स्वयं को सत्य प्रमाणित करने वाली भविष्यवाणी (सेल्फ फुलफिलिंग प्रोफेसी) होती है, इकाई की मानसिकता और उसके व्यवहार-प्रकार इस छवि के अनुकूल बनने लगते हैं। कभी-कभी कई समूह नए संदर्भों में अपने-आपको नई आत्मछवि देना चाहते हैं या प्रदत्त छवि को प्रयत्नपूर्वक गलत प्रमाणित करना चाहते हैं। इन प्रयत्नों के सफल होने में समय लगता है, क्योंकि भ्रांतियों और विकृतियों में भी अदम्य जीवन-शक्ति होती है। संस्कृति-समूहों की मानसिकता पर इन छवियों की गहरी छाप होती है।

—श्यामाचरण दुबे

वह जंगल का एक भाग था। जंगल मीलों तक फैला चला गया था। शाल, साखू, शीशम, बबूल के वृक्ष-ही-वृक्ष थे, अनेक जिनमें से आकाश में सिर ताने हुए खड़े थे। झाड़ियां एक-दूसरे से उलझी-गुथी हुई थीं, झुरमुटों का एक अनंत सघन सिलसिला बनाती हुईं। वहां जमीन रूखी, खुरदरी थी, ऊबड़-खाबड़ भी, रास्ता देने से इंकार करती हुई। वहां चीजों में बेतरतीबी थी, बीहड़ता थी, जुझारूपन था और था जीवन के लिए एक जरूरी विद्रोह।

❑

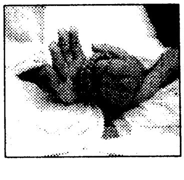

कहानी

जीवन राग

❑

हृदयेश

उस सलेटी चितकबरे सांप का फन जमीन से एक फुट ऊंचा तना था। बालिश्त-भर चौड़ा फन एकदम स्थिर था, कोयले की दहकती चिनगारियों-सी आंखें भी, सिवा बारीक तागे-सी उन दो जीभ के जो सिरे पर आकर जब-तब लपलपाने लगती थीं, हवा को टोहती हुई-सी। सांप बेहद सजग व चौकन्ना था, आक्रमण होने और आक्रमण करने—हर स्थिति के लिए।

दो गज के फासले पर एक काली बिल्ली गुलेल जैसी खिंची बैठी थी। वह भी बेहद सजग व सावधान थी, उसके जिस्म के सारे रोएं कांटों जैसे भरभराए हुए थे और आंखें दो अकंप लौ जैसी जल रही थीं, चुनौती स्वीकार करतीं और चुनौती देती हुईं-सी।

वह जंगल का एक भाग था। जंगल मीलों तक फैला चला गया था। शाल, साखू, शीशम, बबूल के वृक्ष-ही-वृक्ष थे, अनेक जिनमें से आकाश में सिर ताने हुए खड़े थे। झाड़ियां एक-दूसरे से उलझी-गुथी हुई थीं, झुरमुटों का एक अनंत सघन सिलसिला बनाती हुईं। वहां जमीन रूखी, खुरदरी थी, ऊबड़-खाबड़ भी, रास्ता देने से इंकार करती हुई। वहां चीजों में बेतरतीबी थी, बीहड़ता थी, जुझारूपन था और था जीवन के लिए एक जरूरी विद्रोह।

ऊपर आकाश में दोपहरी का सूरज चमक रहा था। रोशनी अपना अस्तित्वबोध देने के लिए पत्तों के बीच से रास्ता बनाती हुई नीचे उतर आई थी। रोशनी में ताप नहीं था, उजलापन था। उस टुकड़े में वह और भी भरपूर था जहां वे सांप और बिल्ली थे। वह टुकड़ा ऊपर आकाश के लिए किसी कदर खुला हुआ था।

सांप अपने गहरे बिल में से आज कई दिनों बाद निकला था। वह बाहर हवा, रोशनी में विचरना चाहता था। भूख भी महसूस हुई थी उसे। बाहर आकर सरकता हुआ वह रुक-रुक जाता था, घास पत्तों पर जमी ओस चाटता था, और आवाज की ओर चौंक-चौंककर सिर उठाकर देखता था। दो सौ गज यों जाने पर उसे सामने से आता एक चूहा दीख गया था। सांप ने तेजी से आगे सरककर फन काढ़ लिया था। चूहे का सारा जिस्म फूल कर तूंबड़ी जैसा हो गया था। वह उस हालत में आधा मिनट तक जड़-सा बैठा रहा और फिर जैसे ही उसने एक ओर भागने के लिए गर्दन मोड़ी कि उसके कंधे पर सांप का फन पड़ा...चट। बस इतना ही। फन कंधे पर पड़ा भी, हट भी गया और सारी क्रिया अदृष्ट रही। शायद वह 'चट' भी नहीं हुई थी। चूहा खड़ा-खड़ा कुछ देर छोटी धौंकनी-सा कंपकंपाता रहा और फिर उछलकर एक करवट गिर गया। हलकी-सी हो रही चिंचियाहट भी फिर खत्म हो गई। सांप एक मिनट तक फन काढ़े खामोश रहा, अधीरता का बिना हलकापन दिखाए। फिर वह अपना जबड़ा चूहे की गर्दन तक ले गया और उसने रुक-रुककर झटके के साथ चूहे को निगल लिया। कुछ देर तक तो यों लगा कि चूहा सांप के गले में फंस गया है, गला गुब्बारे जैसा फूल गया था और सांप शायद चूहे को निगल नहीं सकेगा। लेकिन उसने दो-तीन झटकों के साथ उसे निगल लिया। गला सुडौल हो गया। कुछ देर, बस चूहे की

पूंछ बाहर कांपती रही थी, किंतु सांप ने सांस खींची तो वह पूंछ भी फिर गायब हो गई।

भरपेट आहार मिल जाने से सांप के जिस्म में आलस्य घिर आया था और वह वहां एक झाड़ी के नीचे कुंडली मारकर सोने लगा था। अभी कुछ ही देर पहले वह जागा था और बिल की ओर लौट रहा था कि बिल्ली से उसकी मुठभेड़ हो गई थी।

वह काली बिल्ली भी आहार के लिए अपनी खोह से कुछ समय पहले निकली थी। यों उसने भी सुबह एक चूहे का नाश्ता किया था, किंतु बच्चे बियाने के कारण उसे बार-बार अपने जायों को दूध पिलाना पड़ता था और इससे उसे स्वयं जल्द-जल्द भूख लग जाती थी। वह टोह लेती हुई दुबारा उन बिलों के पास गई थी, जिनमें चूहे हो सकते थे और पंजों से बिलों के द्वार खुरचकर खामोश बैठ गई थी, चूहा बाहर निकले और वह दबोच ले। प्रायः इस उपाय से उसे सफलता मिल जाती थी। सुबह भी उसने इसी तरह चूहा पकड़ा था। लेकिन इस वक्त वह तरकीब कारगर नहीं हो रही थी, शायद वे बिल खाली थे। वह जब तक दूसरे बिलों को तलाशने के लिए बढ़े-बढ़े कि उसे सिर के ऊपर फड़फड़ाहट सुनाई दी। उसने आंखों के गोलकों में नामालूम-सी हरकत कर स्थिति का जायजा लिया और जब वह फड़फड़ाहट पुनः हुई तो उसने हवा में एक फुट उछाला लेकर उसे पकड़ लिया। फड़फड़ाहट एक कबूतर की थी—कबूतर मांसल और वजनी था। उसने तब वहीं झाड़ी में हलकी-हलकी गुर्राहट के साथ पंख नोचते हुए उस कबूतर को खा डाला था। तृप्त होकर वह लौट रही थी कि उसे अपने स्थान के पास सांप दीख गया था।

सांप वैसे ही फन काढ़े डटा था, सिरे पर जब-तब धागे जैसी जबान लपलपाता हुआ। कुछ पहले उसने पीछे फैली पूंछ को देवनागरी के अंक सात का आकार दिया था जो अभी बदस्तूर था।

बिल्ली भी वैसे ही रोओं को भरभराए हुए गुलेल की तरह खिंची-तनी बैठी थी।

सांप को क्रोध था कि बिल्ली ने उसकी शक्ति को समझा नहीं। वह अपने बिल को चुपचाप जा रहा था कि इसने सामने आकर रास्ता छेक लिया। रास्ता छेक नहीं लिया, उसे चुनौती दी है। पिछली बार जब वह बिल से निकला था, तो उसकी पूंछ पर सुअर का खुर पड़ गया था और उसने पलटकर उसके गदरे पर काट लिया था। कुछ देर बाद जब वह उधर से फिर गुजरा था, तो सुअर का भारी जिस्म मिट्टी के ढूहे जैसा पड़ा था। उससे पहले उसने एक नील गाय को डसा था और वह भी गिरकर मुर्दा हो गई थी। वह अब तक दस-बीस जानवरों को तो ठिकाने लगा ही चुका है। इस बिल्ली की फिर क्या बिसात! बस, वह उसके जिस्म में कहीं भी अपने दांत चुभो सके कि वह एक मिनट में चीं कर जाएगी। बिल्ली ने आगे बढ़ने की नादानी की नहीं कि वह वैसा मौका निकाल लेगा। बिल्ली को गुस्सा इसलिए था कि सांप इधर से गुजरा क्यों। इधर पत्थर के पीछे खोह में उसने तीन बच्चे जने हैं। सांप इधर आया है, तो उसका कुछ जरूर गलत इरादा है। पिछली बार उसके एक बच्चे को किसी ने मार दिया था। इस बार भी बच्चों के साथ कहीं वैसा कोई हादसा न घटे। बच्चे अभी बहुत छोटे हैं। दोस्त और दुश्मन की उन्हें पहचान नहीं। उसका अपना पेट भरा है। उसे सांप को पेट की खातिर नहीं मारना है, मारना है बच्चों की सुरक्षा की खातिर। बच्चों के लिए वह अपने को हर खतरे में झोंक सकती है।

बिल्ली बीच-बीच में गुर्राने लगती थी।

सांप भी फुंफकारी भरने लगता था। वे एक-दूसरे की ताकत को कूंतते हुए हमले के लिए मौका ताक रहे थे।

जंगल के दूसरे हिस्से में फूलों के गिर्द तितलियां मंडरा रही थीं, कांटों से बिंधने की चिंता न करती हुईं। एक सफेद खरगोश एक झाड़ी में ऊंचाई पर उगी पत्तियों को पिछली दो टांगों पर खड़े होकर खाने की जिद कर रहा था। एक तोता एक पकी हुई बाली को चोंच से कुतर रहा था। एक चिड़िया एक फुनगी पर बैठी आकाश को नापने के लिए पंख हलके-हलके फड़फड़ा रही थी। जंगल का ही एक हिस्सा बनी हुई एक नदी बह रही थी। एक आदमी और एक औरत नदी में उतरने की तैयारी कर रहे थे। आदमी और औरत एक पहिएदार चौकी के सहारे दो शहतीरें जंगल के अंदर से खींचकर किनारे तक लाए थे और सिरों को एक मोटी रस्सी से बांधकर उनको पानी में उतार दिया था। वे इन दो शहतीरों को दोपहर तक जुट कर तैयार कर पाए थे। शहतीरों को तैयार करने में आदमी को कुल्हाड़ी भी इस्तेमाल करनी पड़ी थी और आरा भी। औरत ने इस काम में उसकी मदद की थी। वह पेड़, जिसमें से शहतीरें निकाली जा रही थीं, बहुत हृष्ट-पुष्ट और ऊंचा, कद्दावर था। न जाने उसने कितनी तेज बरसातों, कितनी गरजकर लपलपाने वाली बिजलियों और कितनी प्रचंड आंधियों का सामना किया था। सामना कर वह झूमता था कि विरोधी स्थितियां उसका कुछ बिगाड़

नहीं सकी हैं। वह पेड़ शान से अपनी पूरी जिंदगी जिया था। इसलिए मरते हुए उसे कोई मलाल नहीं हुआ था।

आदमी को अब उन शहतीरों को दूसरे किनारे पर ले जाना था। औरत ने मतलब लायक चिपड़ियों का एक छोटा गट्ठर बना लिया था और उसे उस गट्ठर के साथ उस पर पार पहुंचना था।

आदमी पानी के अंदर धंसकर रस्सी के सहारे शहतीरों को आगे बढ़ाने लगा।

औरत ने पल्लू से गट्ठर को पीठ पर इस तरह बांध लिया कि वह उसे लेकर उथले पानी में चल तो सके ही, गहरे पानी में लेकर तैरने में भी उसे कोई दिक्कत न हो।

●

वह काली बिल्ली और सलेटी चितकबरा सांप अब भी दो जानलेवा दुश्मनों की तरह आमने-सामने डटे थे, किसी फ्रीज्ड सीन जैसे। समय जैसे वहां ठहर गया था। सूरज की गिर रही रोशनी एक मजबूत फ्रेम के रूप में इस अद्‌भुत रोमांचक दृश्य को बांधे हुए थी।

बिल्ली को एकाएक लगा कि दाईं ओर का स्थान हमले के लिए ज्यादा मौजूं होगा। वह एक कदम उधर बढ़कर तनकर बैठ गई।

सांप ने झट अपना कढ़ा हुआ फन दाईं ओर कर लिया।

बिल्ली को लगा कि नहीं, बाईं ओर का स्थान ज्यादा मौजूं होगा। और वह दो कदम उधर बढ़कर तनकर बैठ गई।

तब सांप ने झट अपना कढ़ा हुआ फन बाईं ओर कर लिया। फन के सिरे पर काली और पीछे सुर्ख दुहरी जीभ अब तेजी से ।हर लपलपा रही थी, हवा को ही दंशित करने की कोशिश करती हुई-सी। पीछे लहरियां लेती पूंछ भी जमीन पर फट-फट की आवाज के साथ गिर रही थी।

बिल्ली ने अपने जिस्म को और खींच लिया। गर्दन और लंबी हो गई। बैठी होते हुए भी अब वह खड़ी-सी दीख रही थी।

बिल्ली को लगा, उसके बच्चे पत्थर से ढकी खोह के मुंह तक आ गए हैं। गर्दन पर सफेद चकत्ते वाला नर बच्चा, कुछ ज्यादा ही चपल है और वह बाहर भी निकल सकता है। बिल्ली बैठे-ही-बैठे पीछे खिसकी और फिर एक झपाके से उछलकर अपने स्थान तक चली गई, जो दस गज के फासले पर था। सच में उसके तीनों बच्चे खोह के मुंह तक रेंग आए थे। और सफेद चकत्ते वाला नर बच्चा पत्थर से बाहर गर्दन निकाले हुए सबसे आगे था। बिल्ली ने गुर्राते हुए अपने पंजे बच्चों के सिर पर मारे, 'मूर्खो, फौरन अंदर छिपो। दुश्मन की निगाह तुम पर पड़नी नहीं चाहिए। भूख से ज्यादा बावले मत बनो। मैं जब तक न लौटूं, कोई भी तुममें से बाहर फटके नहीं।' बिल्ली ने गुर्र-गुर्र करते हुए अपने पंजे तेज-तेज फिर चलाए, जैसे आगाह कर रही हो कि उनकी हरकत से वह बहुत नाराज है, अगर उन्होंने उसके कहे को अब कान नहीं दिया, तो वह उनसे बहुत सख्ती से पेश आएगी।

बिल्ली के यों एकाएक चले जाने से सांप बहुत प्रसन्न हुआ था। बिल्ली उससे डर गई है और उसके लिए रास्ता छोड़ दिया है। बिल्ली ने अक्लमंदी की है, वरना एक ही बार में वह उसका काम तमाम कर देता। सांप जब तक अपनी विजय का स्वाद ले-ले और आगे सरकने के लिए अपना फन समेटे-समेटे कि बिल्ली सामने आकर फिर डट गई, वैसे ही चुनौती-भरे तेवर के साथ बिल्ली का जाना और लौट आना—यह सब समय के इतने छोटे खंड में घटा था कि लगता था, बिल्ली अपने स्थान से हटी नहीं। उसका हटना, बस एक भ्रम था।

सांप के जिस्म का सारा तनाव उसके फन में फिर सिमट आया था और सारी सतर्कता उसकी चिनगी जैसी आंखों में।

बिल्ली के कांटों की तरह भरभराए रोओं में लहरियां, आ रहे तूफान की सनसनाहट की तरह उठ रही थीं।

जंगल के एक दूसरे हिस्से में शाख में लगे छत्ते का शहद पीने के लिए चमकदार स्याह बालों वाला एक भालू पेड़ पर चढ़ रहा था। एक दूसरे पेड़ पर एक लंगूर एक शाख से दूसरी शाख पर छलांग भर रहा था। एक गिलहरी अपने अगले नन्हे दो पांवों से किसी सख्त छिक्कल वाले फल को पकड़े हुए कट-कट कर दांतों से फोड़ रही थी। एक पक्षी तिनके ला-लाकर एक सुरक्षित झाड़ी में नई रचना के लिए घोंसला बना रहा था।

बीच नदी में औरत तैर रही थी। उसकी पीठ पर चिपड़ियों का बंधा हुआ गट्ठर एक टापू सरीखा दीख रहा था। औरत को गट्ठर के कारण पानी धीरे-धीरे काटना पड़ता था। बीच-बीच में वह इस या उस हाथ से गट्ठर टटोल भी लेती थी कि कहीं वह ढीला तो नहीं पड़ गया है। आदमी औरत से पीछे था, काफी फासले से हटकर भी। उसने रस्सी

को गर्दन में फंसा रखा था, जिसके दो सिरे शहतीरों को बांधे थे। पानी की सतह पर आदमी के आगे बढ़ने के साथ-साथ वे शहतीरें भी आगे बढ़ती थीं। पहले वे शहतीरें कुछ आसानी से बढ़ी थीं, लेकिन अब बामुश्किल खिंच रही थीं। धार के कारण वे एक ओर तनकर दबाव डालने लगती थीं और इस दबाव को रोकने के लिए आदमी को अपने जिस्म पर काफी जोर लगाना पड़ता था, जैसे वह एक विषम स्थिति का सामना कर रहा हो। नदी के किनारे का नीला स्वच्छ पानी, जो मित्र और सहायक था, धार में आकर शत्रु और विरोधी हो गया था। अभी कुछ पहले धार से लड़ते हुए जब वह पस्त हो गया था, उसने तन को ढीला छोड़ दिया था और कुछ देर शहतीरों के साथ-साथ बहाव की ओर बहने लगा था। फिर वह कुछ तिरछे होकर पैंतालीस के कोण से आगे बढ़ने लगा था। इससे जिस्म को उतनी ताकत नहीं लगानी पड़ती थी। लेकिन जब कुछ देर बाद उसे एहसास हुआ कि यों वह लक्ष्य-स्थल से दूर होता जा रहा है, तो वह फिर सीधा होकर पानी काटने लगा था। धार में तेजी थी। इससे उसे पानी से जैसे जूझना पड़ रहा था। बाजुओं पर अतिरिक्त जोर डालना होता था। सांस फूलने लगती थी। उसे अपना तन पानी से नहीं, पसीने से भीगा हुआ लग रहा रहा था। कभी-कभी यों भी भ्रम होता था कि पीछे बंधी शहतीरें किसी मजबूत चीज में फंस गई हैं। एक शहतीर होती तो उसे दिक्कत नहीं आती। वह पिछले कई दिनों से एक शहतीर को दूसरे किनारे तक रस्सी के सहारे खींचता ला रहा है। आज उसने एक साथ दो शहतीरें बांध ली थीं कि एकबारगी में ज्यादा काम हो जाएगा। दोनों शहतीरें किनारे पर पहुंचा देने पर उसे ठेकेदार से बीस रुपये मिल जाएंगे, नहीं तो दूसरी शहतीर की मजदूरी कल तक के लिए रुकी रहेगी। मगर दो शहतीरों का एक साथ खींचना मुश्किल था। नदी का पाट चौड़ा था, करीब दो फर्लांग का। एक धार ठीक से पार नहीं कर पाता था कि दूसरी शुरू हो जाती थी, जो पहले से तेज होती थी। लेकिन दिक्कत के बावजूद वह यह मान नहीं रहा था कि उससे कोई ऐसी गलती हो गई, जो उसे एक बड़ी मुसीबत में डाल देगी। उसे अपनी ताकत पर भरोसा था। यह आत्मविश्वास ही उसे अपने फैसलों के प्रति जिद्दी बना देता था। एक तेज धार फिर आ गई थी। कुछ देर वह धार की दिशा में तिरछा होकर तैरा और फिर सीधा हो गया। सूरज कुछ ढल चुका था। तिरछी पड़ रही किरणें पानी में अबरक घोल रही थीं। शहतीरों को खींचता हुआ वह पुष्ट मांसपेशियों वाला पक्के रंग का आदमी नदी की सतह पर बढ़ रहे किसी यान के गतिशील इंजन सरीखा लग रहा था।

औरत ने गर्दन घुमाकर एक हाथ उठाते हुए आवाज लगाई—'ओई...ओई...ओऽऽ...क्या आऊं?'

आदमी ने हाथ उठाकर जवाब फेंका... 'नईं...नईं...नईं...तू किनारे पर चल। परेशान न हो। मैं आता हूं।'

आवाज से अधिक उन दोनों के एक-दूसरे के लिए किए गए संकेत स्पष्ट थे।

●

जंगल के उस हिस्से में सांप और बिल्ली आमने-सामने वैसे ही चुनौती की मुद्रा में डटे थे, वैसे ही घात-प्रतिघात के लिए आकुल और सन्नद्ध। सूरज की रोशनी किसी रुचि-खोए दर्शक की तरह एक ओर हट गई थी, किंतु दृश्य अब भी उतना ही सजीव था। समय जैसे वहां अप्रासंगिक था। प्रासंगिक था कहीं बहुत ही पास छिपा परिणाम।

जंगल के एक दूसरे हिस्से में एक कठफोड़वा एक तने पर बैठा हुआ अपनी लंबी-नुकीली चोंच से खुट-खुट कर तने के सूराख को बढ़ा रहा था। एक झबरी पूंछ वाली लोमड़ी जमीन में धंसे एक पत्थर के टुकड़े को अपने पंजे गड़ा-गड़ाकर पलटने की कोशिश कर रही थी।

नदी में लग रहा था कि शहतीरें तेज धार का अंग बनकर आदमी को अपने साथ बहा रही हैं। नहीं, आदमी धार काटता हुआ शहतीरों को अपनी गंतव्य दिशा की ओर खींच रहा था।

बिल्ली को लगा, उसका सफेद चकत्ते वाला चपल नर बच्चा खोह के मुहाने तक फिर आ गया है।

बिल्ली ने एकदम उछाला लेकर सांप के फन पर भरपूर पंजा मारा। सांप का फन जमीन में लग गया। जखमी फन जब तक ऊपर दुबारा उठे-उठे, बिल्ली ने उछलकर फिर पंजा मारा...फिर पंजा मारा...फिर और फिर...बिल्ली के जिस्म में जैसे बिजली भरी थी। यह चीन्हना मुश्किल था कि वह कब ऊपर हवा में उठी और कब नीचे आई। वह गतिशील आक्रमण का चक्र रूप बन गई थी। बिल्ली ने अशक्त पड़ रहे सांप के बीच धड़ में दांत गड़ाकर उसे और अशक्त कर दिया।

बिल्ली अपने शत्रु—सांप को पराजित करने का स्वाद

लेने के लिए कुछ दूरी पर बैठकर अपनी छाती के महीन मुलायम बाल चाटने लगी।

एकाएक एक स्याह टुकड़े जैसी मंडरा रही चील ने झपट्टा मारा और सांप को अपने पंजे में एक निर्जीव रस्सी के टुकड़े की तरह लटकाए ले उड़ी।

बिल्ली अपने ठिकाने दौड़ गई। उसके तीनों बच्चे उसके थनों से रुई के गोलों जैसे चिपट गए और वह गर्दन मोड़-मोड़कर उनके तन चाटती हुई म्यूं-म्यों-म्यों...करने लगी, 'बेसब्र न बनो। इतमीनान से छककर दूध पियो।'...म्यूं-म्यों-म्यों...'मुझे अब कहीं जाना नहीं है। खतरा साफ हो गया है।'

आदमी उन दोनों शहतीरों को किनारे तक खींच लाया था। औरत अपनी मुग्ध आंखों से उसके कसे, हांफते जिस्म को निहार रही थी, जिस पर सूरज अपना कुंकुम-भरा कलश उंडेल रहा था। जंगल जाते हुए आदमी और औरत तट पर बनी अपनी झोंपड़ी में जो दो बच्चे छोड़ गए थे, वे भी वहां सिमट आए थे। उनमें से आठ साल का लड़का छिछले पानी में उतरकर शहतीरों को बांधने वाली रस्सी को यों खींचने लगा था, जैसे शेष बच रहे कार्य में वह अपने बापू की सहायता करने को उत्सुक है। ❖

आचार्ययोऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्संधानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः।।

दो लकड़ियों को एक दूसरे पर रख कर घर्षण करके जो अग्नि उत्पन्न की जाती है वह उन लकड़ियों को जलाकर ही अग्नि के रूप में प्रज्वलित होती है। इसी तरह ब्रह्म-विद्या भी गुरु-शिष्य के संवाद रूप मंथन (घर्षण) से उत्पन्न होती है। उस मंथन का निरूपण भी ध्यान देकर सुनो। इसमें गुरु हैं 'आद्य-अरणि' अर्थात् अग्नि उत्पन्न करन वाला नीचे का काष्ठ; और शिष्य है 'उत्तरारणि' अर्थात् ऊपर का काष्ठ; उपदेश ही मंथन करने वाली मथानी है। गुरु-शिष्य का संवाद ही मंथन क्रिया है। इस तरह से मंथन करना चाहिए। इस मंथन में या संवाद में यदि आलस्य किया तो ज्ञानाग्नि उत्पन्न नहीं होगी। अपने ही अपने लिए फंसाने वाले के समान होंगे तथा सारे साधन पर ही पानी फिर जाएगा। आलस्य मार्ग स्वीकार करने से इतना अनर्थ हो जाता है। इस योग को सिद्ध करने के लिए योगी आठों प्रहर पूरी तरह से कष्ट सहन करते हैं। अपना हित सिद्ध करने के लिए जागृति रखकर गुरु-वचनों पर विश्वास कर लगातार मंथन करते रहना चाहिए। तभी ब्रह्म-ज्ञान प्रगट होता है। उस ब्रह्म-ज्ञान के एक बार प्रगट हो जाने पर वह देहभान का स्फुरण ही नहीं होने देता। दृश्य, दृष्टा और दर्शन इन सबको तत्काल ग्रस डालता है। आत्म-ज्ञान के द्वारा आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर 'कार्य-कर्म-कर्ता' किंवा 'ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता' ये मूलतः नष्ट हो जाते हैं। आत्म-ज्ञान से संसार-दुख समाप्त होकर आत्म-सुख का लाभ होता है और आत्म-सुख में माया के गुण-दोषों का तत्काल ही नाश हो जाता है।

—एकनाथी भागवत

अञ्जू ढड्ढा मिश्र की कविताएं

बीच ही से शुरू

बीच ही से शुरू
करूंगी बात मैं

नहीं है आधार
वाक्य का मेरे—
न हो,
बात का तो है

और बात का आधार मेरा
वहीं बीच में है
जहां आधे रास्ते ही आकर
रुक गए हैं
तुम्हारी दी भाषा के संस्कार

जहां भाषा के बिना
आधे रास्ते पर
खड़े हैं मेरे विचार
यहां बीच में है भंवर
जहां गुत्थमगुत्था हैं
विचार और संस्कार

लगाते हुए चक्कर
एक-दूसरे की दुम के पीछे
तब कहां किनारे को खोजूं मैं
बताने को बात सिलसिलेवार

यहीं बस यहीं
जहां सन्नद्ध खड़े हैं हम-तुम
अपने अपनेपन पर अटल
यहीं है
वह भंवर
वह खाई
वह दीवार
दुर्निवार
वह नाभिकी ऊर्जा
जिससे जीवन पाकर भी
जरूरी है अलग होना
जीवित रहने के लिए

तब क्यूं न शुरू करूं मैं बात
बीच ही से
क्यूंकि बीच ही तो है
बीज बात का।

•

तिलांजलि

बरसते मेंह में
इच्छाओं की अंतिम यात्रा

थके मिथकों के कंधों पर
अर्थों की अरथी

धुंधुआती यादों की चिता में
सुलगते सपने को
तिलांजलि है
कविता।

•

चाहना और होना

कहीं होने के लिए
जरूरी नहीं
होना वहीं

कहीं होकर भी
हुआ जा सकता है
और कहीं

और हुआ जा सकता है
और कहीं
होते हुए यहीं

लेकिन संभव नहीं
होना कहीं
चाहते हुए होना
और कहीं।

•

विवाह

वे जो आए थे लिवाने
और वे जो पहुंचाने आए थे
विदा ले चुके हैं

कमरे की चौखट तक ही
रुक जाते हैं उनके गीत
आशीर्वचन-सुझाव-चुहल-उलाहने

दबे पांव आ जाते हैं भीतर
बचपन के स्वप्न और आस्थाएं
लेकिन बुझ जाते हैं एक-एक कर
बत्तियों के बुझने पर

अंधेरे में बहुत अपना कुछ
चला जाता है बहुत दूर
और दूरी फैल जाती है
बहुत भीतर तक

यहीं से शुरू होती है एक दुनिया
जिससे सारे देवता
किए जा चुके हैं विदा। ❖❖

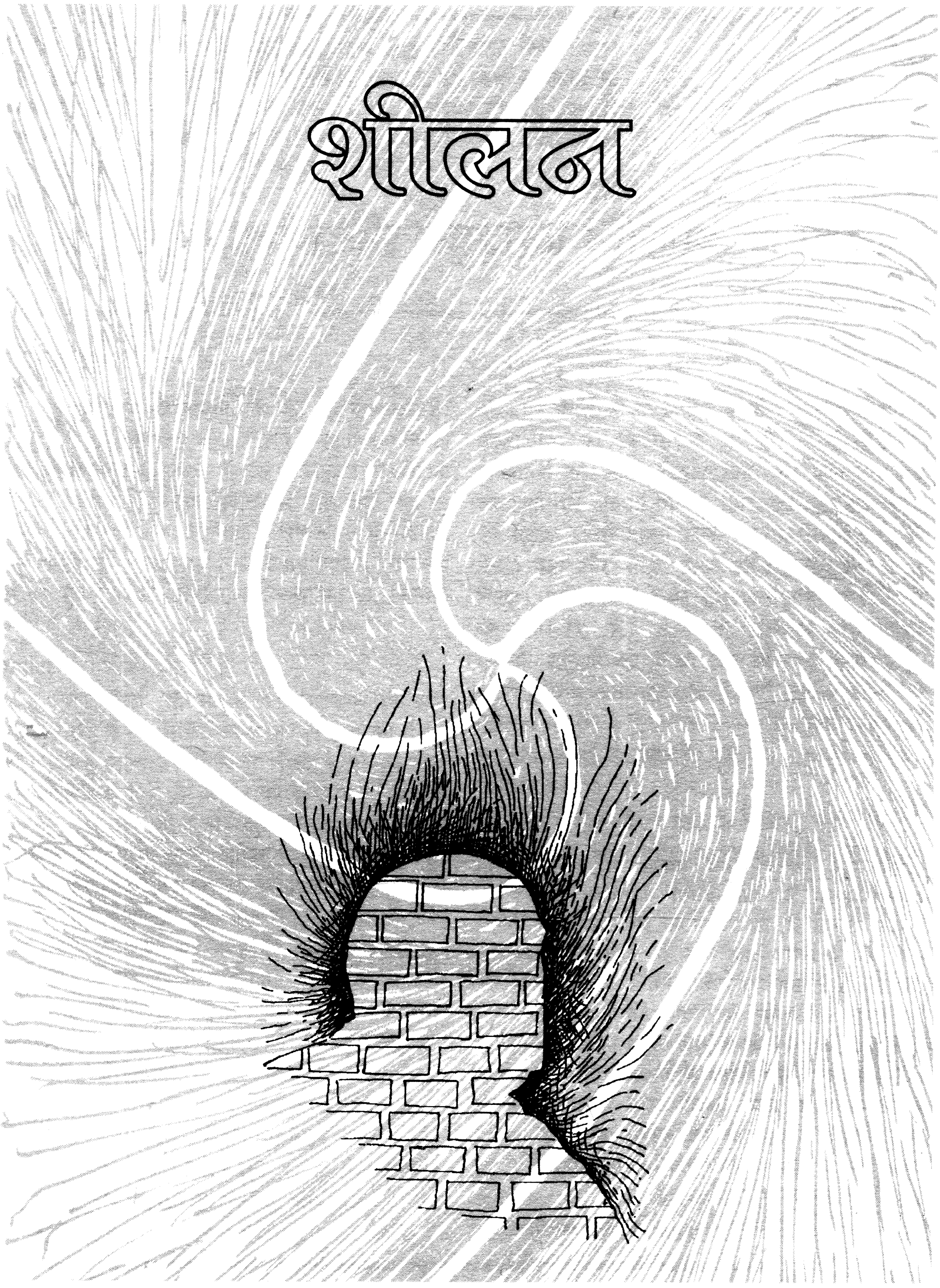
शीलन

अहिंसा में अत्यंत ऊंचे प्रकार का त्याग समाया हुआ है। जो जनता कमजोर और कायर हो गई हो, वह त्याग का भव्य आचरण नहीं कर सकती। ठीक वैसे ही, जैसे चूहे के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसने बिल्ली को मारने की शक्ति का त्याग किया है। यह बात भयंकर भले लगे, परंतु बिल्कुल सच है कि हमें अनवरत और सायास विचारपूर्वक इस शक्ति को पुनः प्राप्त करना होगा और उसे प्राप्त करने के बाद ही हम शक्ति का सतत त्याग करके हिंसा की यातनाओं से दुनिया को मुक्त कर सकेंगे।

—**महात्मा गांधी**

भगवान महावीर की अनुशासन पद्धति को आचार्य भिक्षु ने विकसित किया। उनका मानना था कि जो स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण पा सकता है, वही आज्ञा का पालन कर सकता है और जो आज्ञा का पालन कर सकता है, वही सामुदायिक जीवन में सफल हो सकता है। सफलता के लिए आवश्यक है गुरु के अनुशासन में रहना। अनुशासन को सहने की क्षमता बढ़े बिना संघ प्राणवान नहीं बन सकता।

मर्यादा और अनुशासन : तेरापंथ का प्राणतत्त्व

समणी हिमप्रज्ञा

मर्यादा या अनुशासन पतंग की डोर के समान है। जब तक पतंग की डोर हाथ में रहती है पतंग को कोई भी दिशा दी जा सकती है, उस पर नियंत्रण भी रखा जा सकता है। तेरापंथ धर्मसंघ मर्यादा की ऐसी गहरी नींव पर टिका है, जिसकी नींव भी मर्यादा है और कंगूरा भी मर्यादा। संघ के विकास के लिए आदिगुरु आचार्य भिक्षु ने मुख्य रूप से चार सूत्र दिए—1. मर्यादा, 2. अनुशासन, 3. विनम्रता और 4. समर्पण।

मर्यादा

मर्यादा किसी भी समाज का अलंकरण ही नहीं, उसका सुरक्षा कवच भी है। मर्यादा का मूल्य हर युग में रहा है। मर्यादा का मूल्यांकन तो हर युग में रहा है, पर उस समय जब लोकमानस धर्म और समाज की सीमाओं को तोड़कर युग के उच्छृंखल प्रवाह में बहने लगता है तो उसकी आवश्यकता और मूल्यवत्ता अधिक महसूस होने लगती है। सोने की लंका के सामने सोने का टुकड़ा कभी अपनी महत्ता प्रदर्शित नहीं कर पाता, किंतु एक विपन्न व्यक्ति के लिए वही टुकड़ा मूल्यवान बन जाता है। ठीक इसी प्रकार अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता और उद्दंडता के युग में मर्यादाओं का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक आंका जाता है। आचार्य भिक्षु द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं में से कुछ मर्यादाएं निम्नांकित हैं—

140वें मर्यादा-महोत्सव पर विशेष

- ★ *विहार एवं चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से किए जाएं।*
- ★ *अपना-अपना शिष्य/शिष्याएं न बनाएं।*
- ★ *जिसे आचार्य उत्तराधिकारी चुनें, उसे ही आचार्य मानें।*
- ★ *आचार्य योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें।*

इन मर्यादाओं के निर्माण के पीछे आचार्य भिक्षु का उद्देश्य संघ का विकास तो था ही, न्याय संविभाग, पारस्परिक प्रेम, कलह-निवारण और संघ की सुव्यवस्था करना भी था। आचार्य भिक्षु ने समय-समय पर कई लेख-पत्र लिखे। सबसे पहला लेख-पत्र वि. सं. 1832 में लिखा गया और अंतिम लेख-पत्र वि. सं. 1859 में लिखा। उन्हीं लेख-पत्रों का संकलन तेरापंथ का संविधान बन गया। वि. सं. 1859 का लेख-पत्र माघ शुक्ला सप्तमी, शनिवार को लिखा गया था। अतः तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने इसी दिन को मर्यादा-महोत्सव का रूप दे दिया। तब से अब तक प्रतिवर्ष मर्यादा-महोत्सव आयोजित होता है। इस बार 140वां मर्यादा-महोत्सव है।

देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के समारोह, आयोजन और उत्सव होते हैं, किंतु मर्यादा का उत्सव तेरापंथ धर्मसंघ की ही विशेषता है। विश्व के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहां मर्यादा का महोत्सव मनाया जाता हो। तेरापंथ के इस महोत्सव का लक्ष्य भी आध्यात्मिक है। अतः इस महोत्सव में न नाच-गान होता है, न खरीद-फरोख्त या लेन-देन। न कोई मनोरंजक या हास-परिहास के आयोजन होते हैं और न कोई शक्ति-प्रदर्शन। इस महोत्सव में सैकड़ों-सैकड़ों साधु-साध्वियों व समण-समणियों की सारणा-वारणा की जाती हैं। सारणा अर्थात् अच्छा कार्य करने वाले को प्रोत्साहन देना और वारणा अर्थात् मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले को सचेत कर उसे अपनी गलती का बोध कराना तथा प्रायश्चित्त से परिमार्जित करना।

विश्व में अनेक धर्म एवं धर्मगुरु हैं। उनके पास साधना करने वाले शिष्य-शिष्याएं भी हैं। पर तेरापंथ धर्मसंघ संभवतः विश्व का एकमात्र धर्म-संगठन है जिसमें एक आचार्य (नियंत्रक) के निर्देशन और अनुशासन में सभी साधु-साध्वी और समण-समणियां देश-विदेश में धर्म और अध्यात्म के प्रचार-प्रसार के लिए विचरण करते हैं। वर्तमान में सात सौ से अधिक साधु-साध्वियां और समण-समणीगण हैं। ये सब एक आचार्य के निर्देशन में चलते हैं। मर्यादा-महोत्सव पर एक ओर जहां आचार्य द्वारा विशेष निर्देशन प्राप्त होता है, वहीं साथ-ही-साथ विगत वर्ष में किसने कहां क्या कार्य संपादित किए, इसका पूरा लेखा-जोखा भी इसी अवसर पर किया जाता है। यह संघ की विशेषता है कि यह सब-कुछ आत्मसाक्षी से होता है।

अनुशासन

भगवान महावीर ने अनुशासन को उतना ही महत्त्व दिया जितना किसी विशिष्ट और जवाबदेह संगठन में दिया जा सकता है। इसीलिए कहा गया—'आणा जुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठि संघाओ।' जो आज्ञा से संचालित है—वह संघ है, जिस संघ में आज्ञा की मान्यता नहीं है—वह प्राणहीन अस्थियों का ढांचा मात्र है। भगवान महावीर की अनुशासन पद्धति को आचार्य भिक्षु ने विकसित किया। उनका मानना था कि जो स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण पा सकता है, वही आज्ञा का पालन कर सकता है और जो आज्ञा का पालन कर सकता है, वही सामुदायिक जीवन में सफल हो सकता है। सफलता के लिए आवश्यक है गुरु के अनुशासन में रहना। अनुशासन को सहने की क्षमता बढ़े बिना संघ प्राणवान नहीं बन सकता। इसी चिंतन के आधार पर आचार्य भिक्षु ने अनुशासन और उसे सहने वालों को सर्वोच्च स्थान दिया। उन्हें जहां-कहीं अनुशासन के प्रति उपेक्षा लगी, वहां उसका प्रतिकार किया। मुनि वेणीरामजी आचार्य भिक्षु के प्रमुख शिष्यों में से एक थे। एक बार आचार्य भिक्षु पीपाड़ में विराज रहे थे। वे दुकान (कक्ष) में थे और मुनि वेणीरामजी दूसरी दुकान में बैठे थे। आचार्य भिक्षु ने उन्हें संबोधित किया, वे बोले नहीं। आचार्य भिक्षु ने वहीं पर उपासना करने वाले श्रावक गुमानजी से कहा—'अब वेणी का संबंध संघ से विच्छेद होने वाला है।' उसी समय श्रावक गुमानजी वहां से उठे और मुनि वेणीरामजी के पास पहुंचे और आचार्य भिक्षु का कथन बताया। वेणीरामजी तत्काल आचार्य भिक्षु के पास आए और विनम्र स्वर में बोले—'अनजान में मेरा कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें, आप अनुग्रह करें और मुझे बताएं कि मैंने क्या अपराध किया है, जिसके कारण आपको इतना कड़ा अनुशासन करना पड़ा।' आचार्य भिक्षु बोले— 'तुझे तीन बार संबोधित किया, फिर भी तू नहीं बोला।' मुनिश्री वेणीरामजी ने स्पष्ट किया—'गुरुदेव मैंने आपके संबोधन को नहीं सुना, अन्यथा मैं ऐसा नहीं करता। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैंने जानते हुए ऐसा नहीं किया।' आचार्य भिक्षु ने वेणीरामजी के सिर पर हाथ रखा, मुनिजी का कांपता हुआ शरीर और उद्‌विग्न मन शांत एवं स्थिर हो गए। आचार्य तुलसी कहा करते थे—मुनि वेणीरामजी, सतयुगीजी, हेमराजजी और रायचन्दजी में अनुशासन सहने की अद्‌भुत कला थी। अनुशासन के कारण ही उन्हें संघ में सर्वोच्च स्थान दिया गया।

विनम्रता

विनम्र व्यक्ति ही ऊंचाइयों को छू सकता है। विकास के मार्ग में अहंकार से अवरोध पैदा होता है। आचार्य भिक्षु ने उनको महत्त्व दिया जो मर्यादा, अनुशासन और विनम्रता से युक्त थे। उन्होंने कहा—'विद्या है, किंतु विनम्रता नहीं, तो कीमत एक रुपया से अधिक नहीं, पर विनम्रता आदि गुण हैं और विद्या नहीं भी है, तो कीमत निन्नाणु रुपये है।'

समर्पण

हर एक सबल संगठन में समर्पण का अपना महत्त्व होता है। तेरापंथ धर्मसंघ में भी समर्पण का महत्त्व रहा है। जो व्यक्ति अपने प्रति एवं संघ के प्रति समर्पित हो जाता है, वह सब चिंताओं से निर्भार हो जाता है। तेरापंथ धर्मसंघ में उसी व्यक्ति ने शीर्ष स्थान प्राप्त किया है जो मर्यादा एवं अनुशासन के प्रति समर्पित रहा है। जिसने मनमानी की, उसे कोई स्थान नहीं दिया गया। तेरापंथ संघ के विकास के लिए ही नहीं, अपितु व्यक्तित्व-विकास के लिए भी वर्तमान समय में इन चारों सूत्रों की अत्यधिक उपयोगिता है। वही संघ विकासोन्मुख हो सकता है—जिस संघ में एक नेतृत्व, सुदृढ़ व समुचित व्यवस्था और एक संविधान होता है। तेरापंथ धर्मसंघ में इन का योग देखा जा सकता है। आचार्य तुलसी का चिंतन था कि जिस संघ के सदस्यों में इस्पात-सी दृढ़ता, संगठन में निष्ठा, चारित्रिक उज्ज्वलता, कठोरतम काम करने का साहस और उद्देश्यपूर्ति के लिए स्वयं को झोंकने का मनोभाव होता है—वह संघ सदैव ही विकास के शिखर पर आरूढ़ रहता है। ❖

हिंसा किसी प्राणी का हनन (मारना) ही नहीं, बल्कि हिंसा है—मन की दुष्प्रवृत्ति, वचन की दुष्प्रवृत्ति, काया की दुष्प्रवृत्ति। इस दुष्प्रवृत्ति ने ही विश्व को युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया है। इसीलिए एक-दूसरे देशों में परस्पर अस्त्र-शस्त्रों की होड़ा-होड़ लगी हुई है। अपने-अपने देश की सुरक्षा हेतु अस्त्र-शस्त्रों में और प्रशिक्षण व परीक्षण में बेहिसाब धन लग रहा है। यदि इतना अर्थ एक कमजोर की उदरपूर्ति के लिए या उसके विकास के लिए लगाया जाए तो विश्व में सामंजस्य का नूतन आलोक नजर आ सकता है। आज समाज में भी ऐसी ही वृत्ति पनप रही है, जिसके कारण व्यक्ति एक-दूसरे से भयभीत बन रहा है।

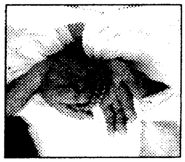

अहिंसा : अस्तित्व की सुरक्षा

■ साध्वी मननयशा गोगुंदा

भगवान महावीर ने कहा—जो दूसरों के अस्तित्व की सुरक्षा करता है, वही व्यक्ति स्वयं के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकता है। दूसरे के अस्तित्व को सुरक्षित रखना ही अहिंसा है। परंतु व्यक्ति स्वयं को ही सुरक्षित रखना चाहता है। उसे दूसरों की सुरक्षा की कोई फिक्र नहीं रहती। इस ऐकांतिक स्वार्थवृत्ति से ही हिंसा पनपी है और बढ़ी है। चाहे धार्मिक क्षेत्र हो या राजनीतिक या सामाजिक क्षेत्र हो, स्वार्थ की प्रवृत्ति ने ही हिंसा की कुत्सित तरंगों को तरंगित किया है।

हिंसा किसी प्राणी का हनन (मारना) ही नहीं, बल्कि हिंसा है—मन की दुष्प्रवृत्ति, वचन की दुष्प्रवृत्ति, काया की दुष्प्रवृत्ति। इस दुष्प्रवृत्ति ने ही विश्व को युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया है। इसीलिए एक-दूसरे देशों में परस्पर अस्त्र-शस्त्रों की होड़ा-होड़ लगी हुई है। अपने-अपने देश की सुरक्षा हेतु अस्त्र-शस्त्रों में और प्रशिक्षण व परीक्षण में बेहिसाब धन लग रहा है। यदि इतना अर्थ एक कमजोर की उदरपूर्ति के लिए या उसके विकास के लिए लगाया जाए तो विश्व में सामंजस्य का नूतन आलोक नजर आ सकता है। आज समाज में भी ऐसी ही वृत्ति पनप रही है, जिसके कारण व्यक्ति एक-दूसरे से भयभीत बन रहा है।

प्रश्न होता है—व्यक्ति में ऐसी वृत्ति क्यों पनप रही है। आयुर्विज्ञान की भाषा में समाधान मिलता है कि व्यक्ति के भीतर 'एड्रीनल ग्रंथि' का स्राव बढ़ता है, तब ऐसी भावनाएं उद्दीप्त होती हैं। जैन दर्शन की मान्यता है कि व्यक्ति के भीतर कषाय की प्रबलता होती है तो आसुरी प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है, उसी से प्रेरित होकर व्यक्ति अशुभ कर्म कर बैठता है।

भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—भंते! कर्म क्या है और कर्मबंधन क्या है? सूत्रकृतांग के आधार पर भगवान महावीर ने कहा—'कम्मं च खलु मए अप्पाहयु समणाउसो! से उदए बुइए'—आयुष्मान श्रमणो! एक अपेक्षा से मैंने कर्म को जल कहा है और कामभोग को कीचड़ कहा है। जब तक जीव और कर्म का संबंध रहेगा, तब तक संसार है। कर्म से मुक्त होना संसार से मुक्त होना है। कर्म का मूल है—आश्रव, कर्म ग्रहण करने की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति। भगवान महावीर ने कहा—'छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णता'। षड्जीवनिकाय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय भी कर्मबंधन के हेतु हैं, क्योंकि आत्मा सभी की समान होती है। जो मेरे लिए अप्रिय है, वैसा ही सभी के लिए है। कोई डंडे, हड्डी, मुट्ठी, ढेले या खप्पर से पीटे-मारे, तर्जना दे, ताड़ना दे, परितप्त और क्लांत करे, प्राण से वियोजित करे, यहां तक कि रोम उखाड़ने मात्र से हिंसाकारक दुख और भय का प्रतिसंवेदन करता है, पीड़ा का अनुभव करता है—वैसे ही सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को मारने-पीटने, तर्जना-ताड़ना देने और प्राण वियोजित करने से दुख और भय का प्रतिसंवेदन करते हैं, पीड़ा का अनुभव करते हैं। यह समझकर किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को न सताएं, न मारें, न अधीन बनाएं, न दास बनाएं, न परिताप दें, न वियोजित करें। दूसरों को भी अपनी आत्मा के समान

समझें। 'आयतुलेपयासु'—जो मुझे पसंद है, वही दूसरे के साथ करूं।

परंतु व्यक्ति का भीतरी कषाय जब प्रबल बनता है तो वह दृष्टि-विहीन बन जाता है और चेतना पर आवरण आने से वह हिंसा पर उतर आता है। कषाय का मुख्य हेतु है—'ममकार'। जब तक मेरापन रहेगा तब तक कर्मबंधन रहेगा। भगवान महावीर ने ममत्व के तीन बिंदु बताए हैं—

कामभोग : किसी की कामना, इच्छा और भोग-वृत्ति ही ममत्व को पैदा करती है। यही ममत्व परिग्रह की चेतना को जागृत करता है। परिग्रह ही हिंसा का मूल कारण बनता है। भगवान महावीर ने परिग्रह के प्रति होने वाली आसक्ति की पांच अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

(क) मूर्च्छित : मूर्च्छित व्यक्ति की तरह दोषों को न देख पाना, एकमेक हो जाना, तदात्म हो जाना। (ख) गृद्ध : परिग्रह की सतत कामना करना। (ग) ग्रथित : ऐसा बंध जाना कि फिर उससे निकल पाना कठिन होता है। (घ) अध्युपपन्न : परिग्रह के प्रति तीव्र अभिनिवेश। (ड़) लुब्ध : लीन हो जाना, आसक्त हो जाना।

इसी तरह काम-वासना के तीन उत्तेजक तत्त्व हैं—(1) धन (परिग्रह) (2) शरीर, (3) अवस्था, जहां तीनों का एकत्रावस्थान होता है, वहां कामक्रीड़ा को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है।

परिग्रह की चेतना का निरूपण करते हुए भगवान महावीर ने बताया—'इह खलु पुरिसे अण्णमण्ठां ममठाए एवं विप्पडिवेदेति तं जहा खेतं में वत्थूं में हिरण्णं में सुवण्णं में धण्णं में—इस संसार में मनुष्य दूसरी-दूसरी वस्तुओं को अपनी समझता है जैसे—भूमि मेरी, घर मेरा, हिरण्य मेरा, सोना मेरा, धन मेरा, सारी संपत्ति मेरी है। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श मेरा। ये मेरे कामभोग हैं, मैं इनका हूं। इस प्रकार बाह्य पदार्थ के प्रति जो ममत्व है, मेरापन है, मूर्च्छा हैं—यही कर्मबंध का कारण है। भगवान महावीर ने कहा—पदार्थ कभी परिग्रह नहीं होता, परंतु पदार्थ के प्रति होने वाली मूर्च्छा परिग्रह है—'मुच्छापरिगहो'—मूर्च्छा ही परिग्रह है और परिग्रह ही हिंसा का कारण है। निश्चय नय की दृष्टि से अपना कौन और पराया कौन होता है। सभी समान होते हैं। राजा भोज बड़े कवि थे। एक दिन राजमहल में शय्या पर लेटे-लेटे चिंतन कर रहे थे—मेरे पास क्या नहीं है—सब-कुछ है। शब्द तरंगें तरंगित हो उठीं—

'चेतोहरायुवतयः स्वजनोऽनुकूला, सद्बान्धवा प्रणय गर्भ गिरश्च भृत्याः॥

गर्जन्ति दन्ति निवहास्तरलातुरंगा...', रुक गये। फिर बोले—मेरे पास चित्त को हरण करने वाले युवक (योद्धा) हैं, अनुकूल स्वजन-जन हैं, बांधव हैं, पानी है, आज्ञाकारी नौकर हैं। अश्वसेना, गज-सेना—सब-कुछ है। इसी प्रकार वे सोच रहे थे, पर अंतिम चरण नहीं बन पाया कि पलंग के नीचे घुसे चोर के मुंह से निकला—'सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति'—हे राजन! सब-कुछ आपके पास होते हुए भी आपकी ये दोनों आंखें जब बंद हो जाएंगी तो आपका कोई नहीं रहेगा। राजा को प्रतिबोध मिल गया। प्रज्ञा जागृत हुई, मूर्च्छा टूटी। राजा प्रतिबोधित होकर विरक्त हो गया। जहां मूर्च्छा होती है, वहां मेरापन होता है। जहां मूर्च्छा टूटी कि अनासक्ति हो जाती है। सच कहा है—अर्थ ही अनर्थ का मूल है, जहां अत्यधिक अर्थार्जन होता है, गलत साधनों से अर्थार्जन करता है, भगवान महावीर ने कहा—वह नरक व बैर का अनुबंध करता है।

ज्ञातिजन : ममत्व का दूसरा बिंदु है—ज्ञातिजन। व्यक्ति सोचता है कि परिग्रह तो दूर की वस्तु है, पर ये ज्ञातिजन मेरे निकट के हैं जैसे—माता मेरी, पिता मेरा, भाई मेरा, बहिन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा—ये सब ज्ञातिजन मेरे हैं, मैं इनका हूं। इस प्रकार अपने ज्ञातिजनों के प्रति मोह करता है और सोचता है कि मैं इनके दुख को बंटाऊं, पर चाहने मात्र से ऐसा नहीं होता है। भगवान महावीर ने कहा—

अण्णस्स दुक्खं अण्णोणो परियाइयइ—दूसरे का दुख दूसरा नहीं बंटाता।

अण्णेण कतं अण्णो णो पडिसंवेदेह—दूसरे के द्वारा किया हुआ दूसरा नहीं भोगता।

पत्तेयं जायइ—अकेला ही जन्मता है।

पत्तेयं मरइ—अकेला ही मरता है।

पत्तेयं मण्णा—मनन अपना-अपना होता है।

पत्तेयं वेदना—संवेदन, दुख अपना-अपना होता है।

जैन दर्शन का अभिमत है कि जो करता है, वही भोगता है। जो जैसा बोता है, उसी के अनुरूप उसे फल मिलता है। व्यक्ति चाहे किसी के लिए कुछ भी पाप करे, उसका परिणाम उसे ही भोगना पड़ता है। कोई भी उस पाप के परिणाम का हिस्सा नहीं बंटाता। जितने भी संसार में छोटे-बड़े प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म के विपाक से सुख-दुख का अनुभव करते हैं। दूसरे का दुख दूसरा नहीं

बंटा सकता। माता-पिता या स्वजन-बंधु अपने संबंधियों के असह्य दुख से पीड़ित अवश्य होते हैं, किंतु वे उस दुख का विभाग नहीं ले सकते हैं, दुख उसी को भोगना पड़ता है—जिसने उन दुखों को पैदा किया है। दूसरे व्यक्ति के द्वारा संपादित कर्म का कोई दूसरा प्रतिसंवेदन नहीं करता। कोई प्राणी कषाय के वशीभूत होकर या भोग की अभिलाषा से, या अज्ञानवश या मोह के प्रबल उदय से कर्म उपार्जित करता है, उन कर्मों के उदय का अनुभव उसी प्राणी को करना होता है। उन कर्मों का कटु परिणाम उसे ही भुगतना पड़ता है। दूसरा उस कर्म का अनुभव करता है तो 'अकृत आगम'—अर्थात् बिना किए का उपभोग करना पड़ता है। यह जैन परंपरा में मान्य नहीं है तथा साथ-ही-साथ जिसने किया, उसने कल नहीं भोगा—यह 'कृत नाश' नाम का दोष भी उत्पन्न होता है। अतः जो करता है, उसे ही भोगना पड़ता है। यही जैन दर्शन की मान्यता है, इसलिए कहा है—

पर कृतकर्मणि यस्मान्न क्रामति संक्रमो विभागो वा।
तस्मात् सत्त्वानां कर्म, यस्य यत्तेन तद्वेधम्॥

दूसरे द्वारा किए गए कर्म में न संक्रमण होता है और न उसका विभाग होता है। इसलिए जिसने जो कर्म किया है, उसको उसका परिणाम भुगतना ही पड़ेगा। अतः ज्ञातिजन से मोह न करें। ज्ञातिजन भी ममत्व का हेतु हैं। जिस प्रकार हाथी बंधन से बंधता है, प्रताड़ित होता है—उसी प्रकार व्यक्ति परिवार से बंधकर प्रताड़ित होता है और उसका अंत भी अच्छा नहीं होता। असहाय बनकर अकेला ही चला जाता है।

शरीर : ममत्व का तीसरा बिंदु है—शरीर। भगवान महावीर ने शरीर को भी ममत्व का हेतु बताया है। हर व्यक्ति अपने शरीर के सौंदर्य को बढ़ाना चाहता है। सौंदर्य के लिए बाहरी संसाधनों का प्रयोग करता है, जिस सौंदर्य सामग्री में न जाने कितने निरीह प्राणियों की हत्या होती है, कितने जीवों पर ऐसे-ऐसे प्रयोग किए जाते हैं, बेचारे बिना मौत ही मौत के मुंह में चले जाते हैं। भौतिक सौंदर्यवादी युग में भीतरी सुंदरता तो गौण ही रहती है, बाहरी सुंदरता मुख्य बन जाती है। भीतरी सौंदर्य है—करुणा। आज मनुष्य की करुणा सूखती जा रही है। करुणा क्रूरता में बदल गई है। इसलिए एक व्यक्ति देखते-देखते दूसरे व्यक्ति को खत्म कर देता है। एक भाई दूसरे भाई को हानि पहुंचाता है। अपने-आप को शक्तिशाली समझता है। जिस व्यक्ति को अपने शरीर के प्रति ममत्व होता है वह सोचता है—मेरे हाथ कमलदल की तरह कोमल और अन्यान्य लक्षणों से उपचित हैं, मेरी भुजाएं हाथी की सूंड की आकृति वाली, मेरे पैर कूर्म सदृश और मेरी आयु दीर्घ है। मुझे ओरस बल और बुद्धि बल प्राप्त है। मेरा वर्ण अवदात, त्वचा स्निग्ध और शरीर लावण्ययुक्त हैं। वह मानता है—मेरी आंखें विशाल रक्तोत्पल की भांति धवल हैं। मेरी नासा ऋजु, ऊंची और आयत है, मेरी जीभ पतली और विशद है और स्पर्श कर्कश और कोमल दोनों है। इसी प्रकार दांत, ओंठ, कपोल, भौंहें, ललाट, गला, छाती, पीठ, कटि, जानू—जंघा आदि पर भी वह ममत्व रखता है। शरीर और शरीर के अवयव जैसे मेरे हैं, वैसे दूसरे के नहीं हैं। अवयवों के सड़-गल जाने पर भी उनको छेदना नहीं चाहता। इस प्रकार वह अपने शरीर के प्रति अत्यंत आसक्त होता है, पर यह नहीं सोचता है कि यह शरीर भी एक दिन पीपल के पीले पत्तों के समान पतझड़ आने पर मिट्टी में मिलने वाला है, पौद्गलिक स्वभाव वाला है।

वृद्धावस्था के कारण शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, सारा शरीर नाड़ियों के जाल से वेष्ठित हो जाता है, उसे देखकर स्वयं मनुष्य भी उद्विग्न हो जाता है, दूसरों का तो कहना ही क्या। एक कवि ने सुंदर ही कहा है—

बलि संततमस्थिशोषितं शिथिलस्नायुवृतं कलेवरम्।
स्वयमेव पुमान् जुगुप्राते किमु कान्ता कमनीय विग्रहा॥

जो शरीर झुर्रियों से आक्रांत है, जिसमें केवल हड्डियां ही शेष हैं, सारे स्नायु शिथिल हो गए हैं—उन्हें देख स्वयं व्यक्ति उनकी जुगुप्सा करता है तो भला कमनीय शरीर वाली स्त्री का तो कहना ही क्या? इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले आरंभ और परिग्रहयुक्त होते हैं, जहां हिंसा की संभावना होती है। दूसरे के अधिकारों का हनन करता है।

अतः भगवान महावीर ने कहा—साधक ममत्व के इन तीन हेतुओं को भलीभांति समझकर, इनसे उपरत हो, अध्यात्म की गहराई में पहुंचकर आत्मा को सुरक्षित रखता है। इसका माध्यम है अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण अनुप्रेक्षा। साधक को जब तक पदार्थों की अत्राणता का अनुभव नहीं होता, तब तक वह अध्यात्म के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। मूर्च्छा पग-पग पर उसे सताती रहती है। जब उसे—मैं अकेला हूं—की अनुभूति तीव्रता से होती है, तब उसमें अमूर्च्छा घटित होती है और फिर वह एक-एक कर सभी बंधनों को तोड़कर आगे बढ़ जाता है, दूसरे के अस्तित्व को ठेस नहीं पहुंचाता हुआ पर-अस्तित्व की सुरक्षा में स्व-अस्तित्व की सुरक्षा करता है। ❖

वनस्पतिकाय : जैन मान्यता और आधुनिक विज्ञान पृष्ठ 26 का शेष

भविष्यवाणियों में वनस्पतियों का उपयोग

कुछ भविष्यवाणियों में वनस्पतियों का ऐसा अचूक प्रयोग सिद्ध हुआ है कि इनके सामने अन्य की भविष्यवाणियां तीर-तुक्का जैसी लगती हैं। जैसे वर्षा होने या न होने संबंधी भविष्यवाणी को ही लें। प्रकृति के प्रांगण में उगने वाली सुनहरी लिली (ग्लोरिओसा सुपरवा—ग्लोरी लिली) को ही लीजिए—जब अच्छी वर्षा होने की स्थिति होती है तब इसमें रंगीन लबादा ओढ़े लाल-पीले फूल खिलते हैं और जब वर्षा नहीं होने वाली हो तो इसमें मात्र पत्तियां ही दृष्टिगोचर होती हैं।

कुछ ऐसे ही गुण-धर्म सुगंधित पत्तियों वाले मधुमालती नामक वृक्ष में पाए जाते हैं। इसकी शाखाएं कलियों के गुच्छों से हमेशा लदी रहती हैं। बादलों के घिर आने पर इसकी बंद कलियों का खिल जाना वर्षा के शुभागमन की सूचना देता है, किंतु बादलों की नीयत यदि कहीं अन्यत्र जाकर बरसने की हो तो ये उनका मनोभाव झट ताड़ जाती हैं और कलियां बंद रखकर वर्षा न होने की भविष्यवाणी कर देती हैं।

गठालू (डायोस्कोरिया) नामक बेल (लता) की स्थिति तो और भी विचित्र है। इसके ऊपरी कंदों की वृद्धि बंद हो जाए तो समझा जाता है कि आगे वर्षा नहीं होगी। जिस वर्ष वर्षा बिल्कुल न होने वाली हो और सूखे की संभावना हो, उस वर्ष तो इसके कंद पहले से ही भूमि पर टपक-टपककर शोक-संतप्तों की तरह दम तोड़ने लगते हैं।[26]

इस तरह हम देखते हैं कि सर्व-सामर्थ्यवान माने जाने वाले मनुष्य से भी विलक्षण सामर्थ्य जीव जगत के सहचरों-सहजीवियों में विद्यमान है। जैन आगम साहित्य में वर्णित छह द्रव्यों के अंतर्गत 'जीव' द्रव्य की सांगोपांग विस्तृत विवेचना का सूक्ष्म दृष्टि से यदि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाए तो अनेक ऐसे नए तथ्य आ सकते हैं, जो विज्ञान जगत के लिए बहुत उपयोगी हो सकते हैं। विशेषकर पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस—इन छह जीव संबंधी 'षट्जीवनिकाय' नाम से प्रसिद्ध अवधारणा का अध्ययन इस दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण है। वनस्पति संबंधी पूर्वोक्त जैनशास्त्रीय अध्ययन यद्यपि संक्षिप्त ही है, किंतु इतने में भी इस विषयक सूक्ष्म विवेचना का दिग्दर्शन तो हो ही जाता है। पर्यावरण के संरक्षण और उसके शुद्धीकरण में इन अध्ययनों का उपयोग तो संपूर्ण विश्व के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। ❖

संदर्भ सूची

1. मूलाचार वृत्ति 12/48
2. प्रत्येक पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येक शरीराः खदिरादयो वनस्पतयः—धवला 1/1, 1, 41, पृ. 268
3. एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम्। —तत्त्वार्थवार्तिक 8/11/19
4. गोम्मटसार जीवकाण्ड जीव प्रकरण, 168, पृ. 423
5. अनंतः साधारणः कायो येषां ते अनन्तकायः—मूला. वृत्ति 5/16
6. जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणंभवे अणंताणं
वक्कमइजत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं।। कुन्द. मूला. 5/23—षट्खण्डागम पुस्तक 14, सूत्र 125
7. बहूणं जीवाणं जमेगं सरीरं तं साहारणसरीरं णाम। तत्थ जे वसंति जीव ते साहारण सरीरा—धवला. 14/5/6.119, पृ. 225
8. कुंद. मूलाचार 5/14
9. मूलाचार 5/19-20
10. लाटी संहिता 2/109
11. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 192, 185, 186
12. वही, गाथा 187-188, 189
13. लाटी संहिता 2/91-99
14. मूलाचार 5/16
15. वही 5/17
16. वही 5/20
17. प्रज्ञापनासूत्र, पद 22
18. मूलाचार वृत्ति 5/16, दशवै. 4/8
19. मूलाचार वृत्ति 5/17
20. दशवैकालिक 4, सूत्र 8
21. फली वणप्फदी णेया रूक्खखुल्लफलं गदो।
ओसही फलपक्कंता गुम्मा वल्ली च वीरूदा।।
कुन्द. मूला. 5/25
22. सुश्रुत संहिता—सूत्र-स्थान 1/37
23. सेवाल पण्ण वेण्णग कवगो कुहणोय बादरा काया।
सव्वेवि सुहुमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे।। मूलाचार 5/18
24. मूलाचार वृत्ति 5/18
25. वही. 12/161
26. अखंड ज्योति, मार्च 1985, पृ. 43

❖❖

सेठजी ने सभी जेबों में मोहरें भर लीं। पगड़ी में भी मोहरें रख लीं। सेठजी के पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। खुशी-खुशी वे घर की ओर चल पड़े।
ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। सेठजी झूमते हुए चले जा रहे थे। अभी कुछ कदम ही चले थे कि उनको लगा—हवा बंद हो गई है। हवा में गंध आने लगी। दम घुटने लगा। सेठजी का जी घबराने लगा—चलना मुश्किल हो गया। सेठजी घबरा गए। यह क्या? सोना मिला तो मौत आने लगी! वे लड़खड़ाने लगे।

❑

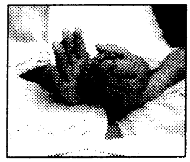

बालकथा

एक रहें नेक रहें

❑

वीरेंद्र तंवर

हम धरती की संतान हैं। इसका अन्न खाते हैं, जल पीते हैं। इसकी गोद में खेलते हैं। बड़े होते हैं, इसका मान करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं। इसे हम धरती माता तथा मातृभूमि भी कहते हैं। कहा गया है—धरती स्वर्ग से भी महान है।

एक दिन की बात है। नदी किनारे एक पेड़ के नीचे लोहा, कोयला और सोना बैठे थे। बैठे-बैठे वे झगड़ पड़े। हुआ ऐसा कि कोयले को प्यास लगी। वह पानी पीने नदी के किनारे गया।

पीछे-पीछे लोहा भी वहां पहुंच गया और बोला, 'अरे, ठहर। पहले पानी मुझे पीने दे।'

'क्यों?'

'मुझे जोर की प्यास लगी है।'

'तुम्हें रोका किसने था, लोहे भाई! मुझे पानी पीता देख तुम्हें प्यास लग गई? इतनी देर बैठे क्यों रहे?'

'देख कोलू, ज्यादा जबान मत चला। जितना कह रहा हूं, उतना कर।'

'लोहे भाई, इतना अकड़ क्यों रहे हो? सभी जानते हैं कि तुम जल्दी गरम हो जाते हो। मुझे आंखें दिखाने की जरूरत नहीं। नदी दीदी सभी को पानी पिलाती हैं। तुम कौन होते हो मुझे रोकने वाले!'

'कोलू, जिधर देखो उधर मेरा राज्य है। सुई-कैंची से लेकर बड़ी-बड़ी मशीनें, रेल, पुल, ट्रक-ट्रैक्टर, कार, जहाज, हवाई जहाज, रॉकेट, तोप-पिस्तौल-बम तक बनाता हूं। सभी ओर मेरा बोलबाला है। मैं सर्वश्रेष्ठ हूं। महान हूं। संसार में मेरा साम्राज्य है। इसलिए पहले मैं पानी पीऊंगा। कोलू, तू पानी गंदा कर देगा।'

कोयला भी चुप न रहा। बोला, 'लोहे भाई, तुम कौन-सा पानी साफ रहने दोगे। अरे, लोग तो पानी साफ करने के लिए मुझे मटकों में रखते हैं।'

'तो तुम मटकों में ही मटकते रहो। भट्टी में जलते रहो। मैं तो धरती से अंतरिक्ष तक छाया हूं। चंद्रलोक तक की सैर कर आया हूं। जल, थल, नभ में मेरा अधिकार है। समझे कोलू भाई!'

'अपने मुंह मियां मिट्ठू मत बनो, लोहे भाई। मेरी गोद में बैठने पर ही तुम आकार पाते हो। मैं तुम्हें लेकर भट्टी में न बैठूं, तो तुम्हें कोई नहीं पूछे। फिर तो सड़क के पत्थर और तुममें कोई फर्क ही नहीं होगा। समझे घमंडीजी!'

'हां-हां लोहे दादा, कोयला भैया वैसे ठीक ही कह रहा है। लेकिन तुम दोनों ही काले-कलूटे हो। तुम लोगों को अपना भाई कहने में भी मुझे शर्म आती है।' नदी बोली।

'देख री नदी, छोटे मुंह बड़ी बात मत कर। नहीं तो अभी...।' लोहा तेज आवाज में बोला।

'बस-बस, रहने दो, लोहे दादा।' हंसते हुए पेड़ बोला, 'नदी दीदी ने सच कहा तो मिर्ची लग गई। कितनी जल्दी ताव आ गया। आजकल तुम ही सबसे सस्ते बिकते हो। गली-गली मारे-मारे फिरते हो।'

'वाह-वाह पेड़ भाई, क्या बात कही।' बीच में उचककर सोना बोल पड़ा, 'लोहेरामजी, दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मैं माना जाता हूं। हर जगह, हर समय मेरा मान रहा है और रहेगा। सबसे ज्यादा कीमती मैं हूं। मैं जिसके पास चला जाता हूं, उसकी किस्मत बदल जाती है। मेरे लिए लोग तरसते हैं। जैसे-तैसे सभी मुझे पाना चाहते हैं।'

'चुपचाप बैठा रह सोनू। नहीं तो अभी तेरी सारी अकड़ निकाल दूंगा। काम का न काज का, ढाई सेर अनाज का।' लोहा पानी पीकर बोला।

'सारी दुनिया मैं चलाता हूं, लोहे भाई। औरत हो या मर्द, बच्चे हों या जवान या फिर बूढ़े हों, सभी मुझे शरीर से चिपकाए रहते हैं। लोग अपनी तिजोरियों में मुझे आराम से रखते हैं। तुम तो जहां-तहां पड़े रहते हो। चोर तो तुम्हें छूते तक नहीं, मुझे ही लेकर भागते हैं।' सोने ने लोहे को आड़े हाथों लिया।

'चुप रह बे सोनू। ज्यादा बड़बड़ मत कर। दिन-रात मैं ही तेरी रक्षा करता हूं। तुझे चोरों से बचाता हूं। मुझसे ही मुंहजोरी करता है!'

'लोहे दादा, ठहरो, दुनिया को चलाने वाले सोनू भैया की परीक्षा हो जाए।' पेड़ बोला।

'हां-हां, मैं तैयार हूं। टेढ़े-से-टेढ़े मामले मैंने चुटकियों में सुलझाए हैं, कठिन-से-कठिन परीक्षाएं पलक झपकते पास की हैं। दुनिया मेरी मुट्ठी में है। सारे लोग मुझ पर जान न्योछावर करते हैं, पेड़ भैया।' सोना ठसक से बोला।

'ठीक है, हाथ कंगन को आरसी क्या! अभी पता चल जाएगा कि दुनिया के लोग किसे चाहते हैं।' पेड़ बोला।

'पेड़ भैया, सूख जाओगे तो लोग तुम्हें जला देंगे—मुझे तो छाती-सिर पर रखते हैं।' सोना बोला।

पेड़ ने कहा, 'ठीक है। देखो, नदी किनारे सेठजी घूम रहे हैं। ये तुम्हें उठाकर ले जाएं तो तुम जीते और मैं हारा, तुम्हें पटक जाएं तो मैं जीता और तुम हारे।'

'नेकी और पूछ-पूछ! सेठजी तो मुझे देखते ही फूले नहीं समाएंगे। मैं अभी उनके सामने जाता हूं।'

सोना गोल-गोल मोहरों के रूप में राह में फैल गया। सेठजी ने रास्ते में सोने की मोहरें देखीं तो आंखें फटी-की-फटी रह गईं। सोचा, कहीं सपना तो नहीं देख रहा हूं। फिर झुककर मोहरें उठाईं और बोले, 'भगवान जब देता है, तो छप्पर फाड़कर देता है। सुबह का घूमना आज सफल हुआ।'

सेठजी ने सभी जेबों में मोहरें भर लीं। पगड़ी में भी मोहरें रख लीं। सेठजी के पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। खुशी-खुशी वे घर की ओर चल पड़े।

ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। सेठजी झूमते हुए चले जा रहे थे। अभी कुछ कदम ही चले थे कि उनको लगा—हवा बंद हो गई है। हवा में गंध आने लगी। दम घुटने लगा। सेठजी का जी घबराने लगा। चलना मुश्किल हो गया। सेठजी घबरा गए। यह क्या? सोना मिला तो मौत आने लगी! वे लड़खड़ाने लगे।

सेठजी चिल्लाए, 'नहीं...नहीं चाहिए ऐसा सोना। और लगे सोने की मोहरें फेंकने। एक पल में ही उन्होंने सब मोहरें फेंक दीं। उनके चारों तरफ सोना था। वे बेदम खड़े थे।

कुछ ही देर में हवा चली। हवा की गंध गायब हो गई। सेठजी की जान-में-जान आई। वे लंबी-लंबी सांस लेकर, सारा सोना छोड़कर घर की ओर चल दिए।

पेड़ ने पूछा, 'बोलो सोनू भैया, तुम हारे या जीते?'

'तुमने जरूर कोई चालाकी की है। देखा नहीं, सेठजी ने पगड़ी में भी मुझे भर लिया था!'

'यह तो उनका लालच था। मैंने कोई चालाकी नहीं की है। बस, सांस लेना और छोड़ना बंद कर दिया था।'

'हां पेड़ भैया, तुम जीते और मैं हारा। तुम दुनिया-भर की गंदी हवा लेते हो और बदले में शुद्ध हवा देते हो। सच में तुम महान हो।' सोना बोला।

सोने की बात सुनकर लोहा आगबबूला हो गया। पेड़ को डांटते हुए बोला, 'अरे ओ जादूगर, जा यहां से। जंगल में जाकर अपनी बीन बजा। नहीं तो तेरे हाथ-पैर काटकर, छील-छालकर तेरी छुट्टी कर दूंगा। मेरी धार तुझे मालूम नहीं है क्या!'

'तुम तो हो ही हत्यारे। मैं तो लोगों को जिंदगी देता हूं। तुम लोगों को खत्म कर देते हो।'

'ठहर, तू ऐसे नहीं मानेगा। आज तुझे सबक सिखाना ही पड़ेगा। बहुत जहर उगलने लगा है। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।' कहता हुआ लोहा पेड़ की तरफ लपका।

'मां...मां...देखो मां, लोहा दादा मुझे मार रहा है।' पेड़ चीखा।

पेड़ की पुकार पर धरती मां तुरंत सामने आ गईं और लोहे का कान पकड़कर बोलीं, 'अरे...ये क्या पागलपन है! छोड़ इसे, शैतान कहीं का! जब देखो तब अपने भाइयों को ही मारता-पीटता रहता है।'

'मारूं नहीं तो और क्या करूं? ये सभी जब देखो तब मेरा अपमान करते रहते हैं। यह तेरी लाड़ली नदी मुझे काला-कलूटा कह रही थी। और यह बहुरूपिया पेड़, यह मुझे हत्यारा कहता है और अपने-आप को महान उपकारी समझता है। अक्ल दो कौड़ी की नहीं, बातें करता है दुनिया-भर की।'

'मां...मां...लोहे दादा का बेकार ही पारा ऊंचा हो गया। मैं इसे पानी पिलाती हूं, साफ-सुथरा करती हूं और यह मुझे ही आंखें दिखा रहा था।' नदी बोली।

'हां मां, लोहा दादा मुझे भी मारने दौड़ा था। कह रहा था—मैं तेरी रक्षा करता हूं। वह तो पेड़ भैया बीच में टपक पड़े, नहीं तो पहले मेरी ही पूजा हो जाती।' सोना सिसकता हुआ बोला।

'देखो मां...ये लोग कितनी नमक-मिर्ची लगाकर बात कर रहे हैं।' लोहा बीच में बोला।

'मां, लोहे दादा का घमंड दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ रहा है। यह कहता है कि सारी दुनिया में इसी का साम्राज्य है। मैं पानी पीने लगा तो यह घमंडी कहता है कि पहले तू पानी मत पी, पानी गंदा कर देगा।' कोयले ने भी मां से लोहे की शिकायत की।

'सुना मां, तुम्हारे सामने ही यह मुझे घमंडी कह रहा है। तूने ही इनको सिर पर चढ़ा रखा है। मैं दुनिया-भर का काम करता हूं, फिर भी ये लोग मुझे उल्टी-सीधी, ऊंची-नीची बातें कहते हैं। क्या मैं तुम्हारा बेटा नहीं हूं?' मां के सामने गिड़गिड़ाते हुए लोहा बोला।

'नहीं बेटा, तुम सभी मेरी संतान हो। तुम सभी अच्छे हो, समझदार हो। समझदार आपस में झगड़ते नहीं। मिल-जुलकर रहते हैं। काम करते हैं।'

'मां, हम झगड़ा-फसाद नहीं करते। यह तो लोहे दादा ने बात का बतंगड़ बना दिया। तुम्हीं बताओ सच्चा सेवक कौन है?' पेड़ ने मां से पूछा।

'वाह रे सच्चा सेवक, बहुरूपिया। जहां देखो, वहीं जीवन-भर खड़ा रहता है। मां, इसे समझा दो। जब देखो तब हाथ-भर की जबान चलाने लगता है। यह अच्छी आदत नहीं है। अपने-आप को यह तीसमारखां से कम नहीं समझता।' लोहा बोला।

'चुप रहो बेटा, तुम्हें ऐसी बातें करना शोभा नहीं देता। तुम सभी दुनिया की सेवा करते हो। सेवा करना तुम्हारा धर्म है।'

'पर मां, यह पेड़ बहुत अकड़ रहा है। कहता है, मैं दुनिया को जिंदगी देता हूं। देखो, इसका दिमाग चौथे आसमान पर है। क्या एक यही तुम्हारा सेवक है? हम तुम्हारी सेवा नहीं करते हैं क्या?' कोयले ने पूछा।

'नहीं, तुम लोग सिर्फ दुनिया की सेवा करते हो। पेड़ दुनिया की सेवा करने के साथ ही मेरी भी सेवा करता है।' धरती मां ने कोयले को समझाया।

'तुम्हारी क्या खाक सेवा करता है! जहां देखो वहीं अंगद के पैर की तरह खड़ा रहता है।' लोहा ताव में बोला।

'नहीं बेटा, यह दुनिया को शुद्ध हवा देता है,

जिसके बिना कोई भी प्राणी जिंदा नहीं रह सकता। फल-फूल, लकड़ी, जड़ी-बूटी देता है। वर्षा करवाता है। इससे सभी लोगों का भला होता है। दूसरी तरफ यह तेज वर्षा, कड़ी धूप और ओलों से मेरी भी रक्षा करता है। अपनी जड़ें फैलाकर मेरा कटाव रोकता है। मुझे यही तो हरा-भरा बनाए रखता है। यही मेरी सुंदरता बढ़ाता है। इसके जैसा सपूत तो दूसरा कोई हो ही नहीं सकता।'

लोहे को अंगूठा दिखाते हुए पेड़ बोला, 'टिल्ली, टिल्ली! सुन लिया दुनिया के सम्राटजी, घमंडी लोहेरामजी।'

'पेड़ बेटे, यह बुरी बात है। अभी मैंने, तुम्हें क्या समझाया था, फिर शैतानी शुरू कर दी! चलो, लोहे भैया से माफी मांगो।' धरती मां बोलीं।

'माफी किस बात की? परेशान तो लोहा दादा करता है, और उसी से माफी मांगूं? यह तुम्हारा कैसा न्याय है, मां?' पेड़ बोला।

'तुमने अभी शरारत नहीं की थी?'

'मां, बड़ा मैं हूं कि लोहा? तुम्हीं देखो, मैं थके-हारे राहगीरों तथा पशुओं को छाया देता हूं। पक्षी मेरी गोद में बसेरा करते हैं। लड़कियां झूला झूलती हैं। मेरे नीचे बुद्ध और महावीर ने ज्ञान प्राप्त किया था। ऋषि-मुनि तपस्या करते थे। अपने शिष्यों को पढ़ाते थे।'

'मैं सब जानती हूं, तू क्या-क्या करता है, बेटा।'

'फिर तुम माफी मांगने को क्यों कह रही हो? दुनिया के लोग मुझे कुलदेवता मानते हैं। मेरी पूजा करते हैं। मुझे लगाने में पुण्य और काटने में पाप समझते हैं।'

'यह सब ठीक है। लेकिन तुम अभी एक-दूसरे का मान-सम्मान करो। प्रेम से रहो। इसी में मेरा भला है। तुम झगड़ोगे तो मेरी हालत क्या होगी, सोचा है कभी?'

'ठीक है मां, हम तुझे दुखी नहीं देखना चाहते। आज गलती हो गई, हमें क्षमा कर दो। अब कभी आपस में झगड़ा नहीं करेंगे। मिल-जुलकर रहेंगे।'

'अच्छा, मैं चलती हूं। मुझे बहुत-सारे काम हैं।' धरती बोलीं।

पेड़-सोना-लोहा-कोयला-नदी मिलकर गाने लगे—

लाल सभी हम धरती मां के
हम सब भाई-भाई।
एक रहें हम, नेक बनें हम,
हममें हो न लड़ाई,
हम सब भाई-भाई।
सीख मानकर धरती मां की,
जग की करें भलाई,
हम सब भाई-भाई।
हरी-भरी कर दें धरती को
पेड़ लगा हर कोई,
हम सब भाई-भाई।

❖

इतिहास सिर्फ वह नहीं जो व्यवस्था के प्रमाणों और प्रमाण-पत्रों के साथ दस्तावेजी जिल्दों में दर्ज है—इतिहास वह भी है जो लोकमानस की भागीरथी के साथ-साथ बहता है, पनपता है और जन सामान्य के सांस्कृतिक पुख़्तापन में जिंदा रहता है। इतिहास से छेड़छाड़ करने की कोशिशें कभी लोक-कल्याण और लोकमंगल के संदर्भों में शुभ नहीं होतीं।

—कृष्णा सोबती

With best compliments from :

शुद्धता और स्वाद का बेहतरीन मिश्रण

अब आ गया अंकुर ट्रिपल रिफाईन्ड आयोडाइज़्ड नमक

- विश्वस्तरीय स्विस तकनीकी से सीधे आप तक पहुंचे
- संतुलित और पौष्टिक आहार के लिए सही चुनाव
- शुद्धता और स्वाद का बेहतरीन मेल
- देश के सबसे बड़े प्लांट से निर्मित
- उच्चतम शुद्धता का वादा

डीलरशीप के लिए संपर्क करें :

ANKUR CHEMFOOD PRODUCTS (GUJ.) LTD.

BBZ-S-59, P.O. Box No. 9, Gandhidham (Kutch) 370201, India
Ph. : (02836) 20957, 22434 Fax : 91-2836-33686

Snappers

जैन भारती, फरवरी, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926/0640, Fax-22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।